जागोरी की पत्रिका

हम सबला

जागोरी 2024

हम सबला

यह पत्रिका अधिकारों के लिए उठे सभी मेहनतकश हाथों को समर्पित है।

संकल्पना, विषय सामग्री और संपादनः अमृता ठाकुर व जया वेलणकर

लेखन और साक्षात्कारः श्रुति बत्रा व प्रवीना आनंद

चित्रांकनः ऐश्वर्या अशोक

लेआउटः महावीर सिंह

पत्रिका के संयोजन में सुनीता ठाकुर और सरिता बलूनी के सहयोग का धन्यवाद करते हैं।

प्रकाशनः जागोरी (2024)

सीमित वितरण के लिए

जागोरी JAGORI

बी-114, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017

फ़ोनः 011 4161 8709/ 2669 1219/ 2669 1220, हैल्पलाइनः 011 4142 7460/ 2669 2700/ 88009 96640

फ़ैक्सः 011 26691221 ईमेलः jagori@jagori.org,

www.jagori.org, www.safedelhi.in, www.livingfeminisms.org

विषय सूची

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ
	हमारी बात........	4
1	मैं भी हो सकती हूं मोटाबेन!	8
2	बाजू हटो! हम लोग आगे चलते हैं	11
3	हम अकेली नहीं, कई सारी हैं!	19
4	घाघरा पलटन	24
5	सामंथा का विश्वास	34
6	हम अपना अधिकार मांगते, नहीं किसी से भीख मांगते	40
7	हे वेणुबाई! तू इतनी उदास क्यों है?...	46
8	औरतों को लीडरशिप की भूमिका में आना होगा	53
9	शबनम की आपा	61
10	मुझे ये औरत चाहिए	66
11	क्या आप जानते हैं कि आपकी चाय कहां से आती है?	73
12	लीडर खुद को पीछे, दूसरों को आगे रखते हैं	82

हमारी बात........

जागोरी दिल्ली के तीन समुदायों-बवाना, मदनपुर खादर और बदरपुर में असंगठित क्षेत्र की महिला कामगारों के साथ काम करती है। ये महिला कामगार, घरेलू कामगार, रेहड़ी-पटरी कामगार, होम बेस्ड वर्कर और फ़ैक्ट्री वर्कर हैं। हमने देखा कि कोविड का इन महिलाओं के रोजगार पर काफ़ी गहरा असर पड़ा है। घरेलू कामगारों में से अधिकतर के न केवल काम छूट गए; बल्कि उनकी बकाया तनख्वाह भी काफ़ी जगह वापिस नहीं मिली। जो पीस रेट पर घरों पर काम करती थीं, उनके पास काम आना बंद हो गया, जो रेहड़ी-पटरी कामगार थीं, उनके पास रोजमर्रा के खर्चे चलाने के पैसे नहीं बचे तो सामान खरीदने के लिए पैसे की तो बात बहुत दूर की है। यही स्थिति फ़ैक्ट्री कामगारों की भी थी। इनमें से कई महिला कामगारों को रोज़मर्रा के खर्चों के लिए कर्ज़ भी लेना पड़ा था, जिसको चुकाने में वे आज भी लगी हुई हैं। हालांकि आज हम महामारी के उस दौर से निकल गए हैं, और अर्थव्यवस्था फिर से पटरी पर आ रही है, लेकिन उसका प्रभाव बना हुआ है। अर्थव्यवस्था में मंदी का दौर चल रहा है, बेरोजगारी की दर बढ़ गई है, नौकरियां कम हो गई हैं। रोजगार में मांग और पूर्ति की जो खाई गहराई है, उसका सबसे ज़्यादा खामियाजा भी इन महिला कामगारों को चुकाना पड़ रहा है। महिला कामगारों की काम की स्थिति पहले से ज़्यादा बिगड़ गई है। काम मिलने कम हो गये, मिल गए तो हमेशा छूटने का डर, तनख़्वाह या दिहाड़ी जो पहले से ही बहुत कम थी-वो और आधी हो गई, काम और काम के घंटों में बढ़ोतरी, मूलभूत सुविधाओं से रहित काम की जगह, अमानवीय और श्रम अधिकारों का मखौल उड़ाने वाली काम की शर्तों के बीच अपनी आजीविका को ये महिला कामगार किसी तरह चला रही हैं।

ये कामगार महिलाएं शोषण के इस चक्र से बाहर निकलें, अपने कामगार अधिकारों को पहचानें और संगठित हो कर अपने अधिकारों के लिए आवाज़ उठायें, इस प्रयास में जागोरी निरंतर लगी हुई है। जागोरी ने यह भी देखा कि इन कामगार महिलाओं की पहुंच कामगार यूनियनों तक भी नहीं बन पा रही है, अगर बनती भी है तो महिला मुद्दों के प्रति ज़्यादातर यूनियनों में एक तरह की उदासीनता है, इन महिला कामगारों की ज़रूरतें उनकी भी प्राथमिकताओं में शामिल नहीं हैं। स्पष्ट है कि महिला कामगारों को खुद भी अपने हकों के लिए आवाज़ उठाना होगा और अपने संगठन बनाने होंगे। जागोरी अपने प्रशिक्षणों के माध्यम से इन महिला कामगारों को उनके कामगार अधिकारों, उनके काम से संबंधित योजनाओं, नीतियों व कानूनों की जानकारी दे रही है। उनकी नेतृत्व क्षमताओं को विकसित करने का प्रयास किया जा रहा है। लेकिन इस लक्ष्य के रास्ते में जो सबसे बड़ी बाधा बन रही है, वह है सामाजिक रिश्तों से अलग 'कामगार' के तौर पर उनकी पहचान का संकट। घर के अंदर न तो परिवार उनके 'काम' को कोई मोल देता है और न ही काम की जगह पर उनको कामगार की तरह देखा जाता है। खुद महिला कामगार भी खुद को कामगार की तरह नहीं देखती हैं। यही कारण

है कि 'कामगारों के अधिकार' जैसे वाक्यों से ये कामगार महिलाएं खुद को जोड़ नहीं पाती हैं। उन्हें यह लगता है कि काम करने का उन्हें मौका दिया जा रहा है, वो अपने परिवार के लिए कमा पा रही हैं, यह उसके परिवार के पुरुष सदस्यों और नियोक्ता का उन पर एहसान है, उनकी असली ज़िम्मेदारी घर गृहस्थी संभालना है। जेण्डर समाजीकरण से बनी यह सोच किसी एक या दो समुदाय की बात नहीं है, कमोबेश सभी महिला कामगारों के सामने किसी न किसी स्तर पर खड़ी रही है। हमें ज़रूरत महसूस हुई ऐसे उदाहरणों की जो उनकी स्थितियों के बिल्कुल समानांतर हों, और इस सोच को चुनौती देते हुए, उन्हें संगठित हो कर आवाज़ उठाने की ताकत दे सकें। इसके लिए हमने भारत में समय-समय पर हुए कामगार आंदोलन जिसका नेतृत्व महिला कामगारों ने किया है, उनकी कहानियों को इन कामगारों तक 'हम सबला' के माध्यम से पहुंचाने का सोचा।

ये वो आंदोलन हैं जो कामगार के तौर पर महिलाओं की पहचान को स्थापित करते हैं। ये सभी आंदोलन इस बात की घोषणा करते हैं कि महिलाएं अपने कामगार अधिकारों के लिए एकजुट होकर संघर्ष कर सकती हैं और उन्हें हासिल कर सकती हैं, क्योंकि काम की दुनिया पर भी उनका बराबर का हक़ है। 'हम सबला का यह अंक 'कामगार महिला आंदोलनों' पर केन्द्रित है। हमने इस अंक में छह आंदोलनों को शामिल किया है, वहीं हमने छह साक्षात्कार भी रखे हैं, जो कि विभिन्न क्षेत्रों से जुड़ी उन महिला कार्यकर्ताओं के हैं, जिन्होंने महिला कामगारों के मुद्दे पर संघर्ष किया और कर रही हैं। उनका संघर्ष जहां उर्जा देता है, वहीं कामगार अधिकारों को हासिल करने का रास्ता भी दिखाता है।

महिला कामगार आंदोलन

महिला कामगार आंदोलन, दूसरे कामगार आंदोलनों से कई मायनों में बिल्कुल अलग हैं। महिला कामगारों ने यह संघर्ष कई स्तर पर किया है। एक घर के अंदर, समाज द्वारा निर्धारित भूमिका और काम की दुनिया की भूमिका के बीच का द्वंद्व, वहीं काम की दुनिया में सामाजिक भूमिका और कामगार की भूमिका का द्वंद्व। काम की दुनिया में भी महिला कामगार समानता के लिए दो स्तर पर संघर्ष करती आई हैं-एक, अपने साथी पुरुष कामगारों के साथ मिलकर सेवा की शर्तों, शोषणकारी वेतन और काम की परिस्थितियों के विरोध में समाजवादी संघर्ष और दूसरा, पुरुष सहकर्मियों व नियोक्ता के यौन शोषण के खिलाफ़ नारीवादी संघर्ष। इन आंदोलनों में उनके संघर्ष के सभी पक्ष साफ़ दिखाई देते हैं।

जब हम महिला कामगारों के आंदोलन के इतिहास को खंगालते हैं तो पहला नाम जो सामने आता है-वह है अनसूया साराभाई का जिन्हें 'मोटाबेन' के नाम से भी जाना जाता है। अनसूया जो कि खुद एक उद्योगपति परिवार से थीं। क्या वजह थी कि वो अपने वर्ग का विरोध करते हुए, कामगारों के पक्ष में न केवल खड़ी हुईं; बल्कि काम की बेहतर स्थिति और काम के निश्चित घंटों की मांग को लेकर 1914 में 21 दिनों की

लंबी हड़ताल का नेतृत्व किया, जो और धीरे-धीरे आंदोलन में तब्दील हो गया? आंदोलन में एक स्थिति ऐसी थी जब वह कामगारों के लिए अपने सगे भाई का विरोध कर रही थीं, और खुद महात्मा गांधी को इसमें हस्तक्षेप करना पड़ा। 'सेवा' जिसका उदय 1920 में अनसूया साराभाई और महात्मा गांधी द्वारा स्थापित टैक्सटाइल एसोसिएशन से हुआ था, लेकिन लंबे समय तक यह यूनियन के रूप में पंजीकृत नहीं हो पाया था, क्योंकि यह उन असंगठित महिला कामगारों के लिए था, जिन्हें न तो कामगार के तौर पर देखा जा रहा था और न ही उनके कोई नियोक्ता थे। इला बेन जो कि टैक्सटाइल लेबर एसोसिएशन के महिला विंग का हिस्सा थीं, उन्होंने महसूस किया कि महिला कामगार पैसे की कमी के कारण कई तरह की आर्थिक परेशानियों को झेल रही हैं, तो उन्होंने छोटे कर्ज़ प्रदान करने लिए सेवा बैंक की स्थापना की। यह एक ऐसी पहल थी जिसे अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने 'माइक्रोफ़ाइनेंस आंदोलन के रूप में मान्यता दी।

'हम 'सामंथा का विश्वास' में 1960 के दशक में हुए मछुआरा आंदोलन में देखते हैं कि किस तरह से काम की दुनिया में महिलाओं की भागीदारी को सीमित करने की कोशिश की जाती है। और इस काम में लोककथाओं या मान्यताओं का सहारा लिया जाता है। जैसे मछली व्यवसाय में मछली साफ़ करने का काम, जाला तैयार करना, मछली को बाज़ार में ले जा कर बेचना या मछली पकड़ने पुरुष जाएगा तो उसकी पूरी तैयारी करना, घर संभालना यह सब ज़िम्मेदारी महिला की है, लेकिन महिला समुद्र या नदी में मछली पकड़ने नहीं उतर सकती, क्योंकि महिला के उतरने से पानी अशुद्ध हो जाएगा। इन मान्यताओं की जड़ें कहां है? हमें सवाल करना होगा कि अगर ऐसा है तो ऐसा क्यों है? और हम देखते हैं कि एक स्तर पर आ कर महिलाएं इन मान्यताओं को चुनौती देती हैं, और फिर ये मान्यताएं आधारहीन निकलती हैं। असंगठित क्षेत्र में 'घरेलू काम' एक ऐसा क्षेत्र है जहां महिलाएं बड़ी संख्या में हैं। घरेलू कामगारों के लिए कानून की मांग लंबे समय से की जा रही है, और इसके लिए प्रयास अभी भी जारी है। 'हे वेणु बाई! तू इतनी उदास क्यों?' लेख महिला घरेलू कामगारों की समस्याओं, उनके प्रति भेदभाव पूर्ण रवैया, काम की अनिश्चितता, पर प्रकाश डालते हुए '1980 में हुए 'पुणे घरेलू कामगार हड़ताल' के बारे में बताता है। कानून न होने के बावजूद इन कामगार महिलाओं ने अपनी बेहतरी के लिए एकजुट हो कर आवाज़ उठाई और स्थिति बदली। इन आंदोलनों में हम देखेंगे कि केवल वेतन, काम के समय, बोनस ही नहीं; बल्कि कई ऐसे मुद्दे हैं जो सीधे तौर पर काम से जुड़े हुए नहीं लगते हैं, जैसे आवास का मुद्दा, लेकिन अगर हम उसे गहराई से देखें तो यह कामगार का ही मुद्दा है। ऐसे मुद्दों को भी महिला कामगारों ने अपने आंदोलन का हिस्सा बनाया। 1990 के दशक में सोलापुर महिला बीड़ी कामगारों ने आवास के अधिकार की मांग को लेकर आंदोलन किया। यह विरोध इतना ज़बरदस्त था कि केन्द्र और राज्य सरकार को उनकी मांग मानते हुए, घरों के निर्माण के लिए बजट में धन अलग से आबंटन करना पड़ा। 2015 में हुए मुन्नार चाय बागान आंदोलन में हम देखते हैं कि किस तरह से महिला कामगारों ने बोनस जो कि वे अपने बच्चों की शिक्षा पर खर्च करती थीं, न मिलने पर एकजुट हो कर इतना बड़ा आंदोलन किया जिससे के.डी.एच.पी. जैसी बड़ी कंपनी को भी घुटने टेकने पड़ गए।

इन सभी आंदोलनों में खास तौर पर हमें गौर करना है कि महिलाओं ने अपनी बंधी बंधाई भूमिका से निकल कर खुद को कामगार के तौर पर कैसे हासिल किया? क्या इन आंदोलनों में तुरंत परिणाम नहीं मिलने की वजह से महिला कामगारों ने हार मान कर उन्हें रोक दिया या आर्थिक सामाजिक या पारिवारिक दबावों ने उन आंदोलनों पर किसी तरह का असर डाला? क्या इन उतार-चढ़ावों ने उनकी एकजुटता और हिम्मत को तोड़ा? लेकिन एक बात बिल्कुल साफ़ है कि ये सभी आंदोलन पूरी तरह से महिलाओं की 'सामूहिकता का दावा करते हैं। ये आंदोलन जैसे-जैसे प्रगति करते गए, महिला कामगार के रूप में उनकी पहचान स्थापित होती गई और राजनीतिक विचार उनके अंदर आकार लेता गया।

आंदोलनों की ये पूरी यात्रा, महिला कामगारों के मुद्दों से जुड़े कई सवालों के जवाब अपने अंदर समेटे हुए है। ये आंदोलन हमें एक दिशा-निर्देश देते हैं कि अपने अधिकारों को हासिल करने के लिए हमें कैसे बाधाओं को पार करते हुए आगे बढ़ना है। इन सभी आंदोलनों की जानकारी सरल भाषा में कहानी के रूप में रखी गई है; ताकि इसकी रोचकता और प्रवाह बनी रहे, और यह अंक अपने मकसद में सफल हो सके।

मैं भी हो सकती हूं मोटाबेन!

माना जाता है कि तकलीफ़ और अन्याय को वही समझ सकता है, जिस पर गुज़रती है। समाज का वह तबका जिसके पास सभी सहूलियतें हैं, सभी तरह की सुख सुविधाएं हैं, वह ज़रूरतमंद की तकलीफ़ों की तरफ़ क्यों कान धरेगा! लेकिन यह कथन या सोच सभी पर सटीक नहीं बैठता है। ऐसे कई पात्र आपको मानव इतिहास में मिल जायेंगे जिन्होंने इस कथन को गलत साबित किया है। अनसूया साराभाई कुछ ऐसी ही थीं। तो चलिए ऐसी ही एक महिला की कहानी आप तक लेकर आते हैं, जो पैदा तो अमीर परिवार में हुई, पर अपना पूरा जीवन मजदूरों और ख़ासकर महिला मजदूरों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति में सुधार लाने के लिए लगा दिया।

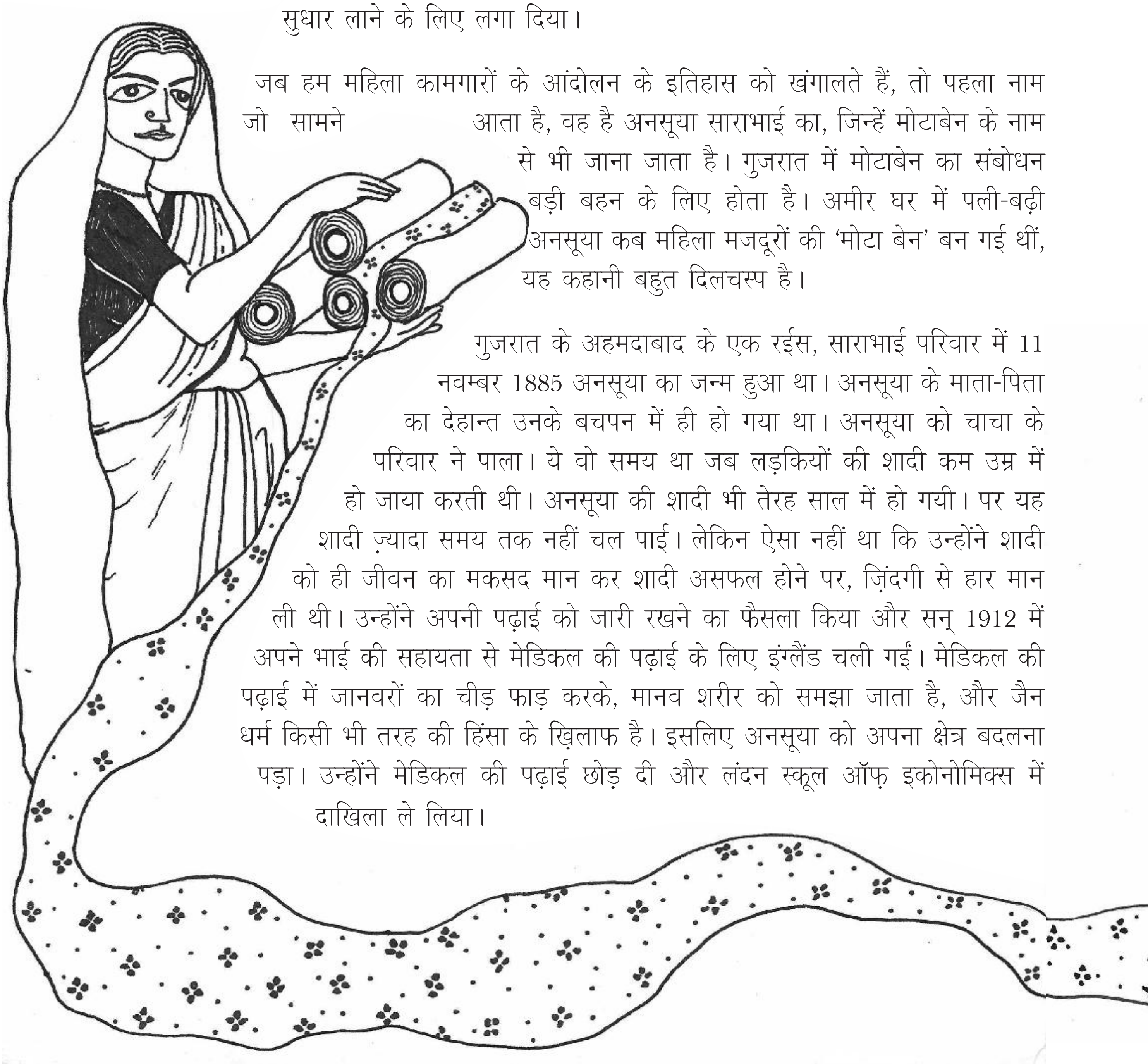

जब हम महिला कामगारों के आंदोलन के इतिहास को खंगालते हैं, तो पहला नाम जो सामने आता है, वह है अनसूया साराभाई का, जिन्हें मोटाबेन के नाम से भी जाना जाता है। गुजरात में मोटाबेन का संबोधन बड़ी बहन के लिए होता है। अमीर घर में पली-बढ़ी अनसूया कब महिला मजदूरों की 'मोटा बेन' बन गई थीं, यह कहानी बहुत दिलचस्प है।

गुजरात के अहमदाबाद के एक रईस, साराभाई परिवार में 11 नवम्बर 1885 अनसूया का जन्म हुआ था। अनसूया के माता-पिता का देहान्त उनके बचपन में ही हो गया था। अनसूया को चाचा के परिवार ने पाला। ये वो समय था जब लड़कियों की शादी कम उम्र में हो जाया करती थी। अनसूया की शादी भी तेरह साल में हो गयी। पर यह शादी ज़्यादा समय तक नहीं चल पाई। लेकिन ऐसा नहीं था कि उन्होंने शादी को ही जीवन का मकसद मान कर शादी असफल होने पर, ज़िंदगी से हार मान ली थी। उन्होंने अपनी पढ़ाई को जारी रखने का फैसला किया और सन् 1912 में अपने भाई की सहायता से मेडिकल की पढ़ाई के लिए इंग्लैंड चली गईं। मेडिकल की पढ़ाई में जानवरों का चीड़ फाड़ करके, मानव शरीर को समझा जाता है, और जैन धर्म किसी भी तरह की हिंसा के ख़िलाफ है। इसलिए अनसूया को अपना क्षेत्र बदलना पड़ा। उन्होंने मेडिकल की पढ़ाई छोड़ दी और लंदन स्कूल ऑफ़ इकोनोमिक्स में दाखिला ले लिया।

इंग्लैंड में रहने के दौरान अनसूया फ़ेबियन सोसाइटी के संपर्क में आईं। वो फ़ेबियन सोसाइटी द्वारा चलाए गए ब्रितानी महिला आंदोलन- 'सुफ़रागेट आंदोलन' में भी शामिल हुई। यह आंदोलन ब्रितानी महिलाओं को मतदान के हक के लिए था। फ़ैबियन सोसाइटी एक ब्रिटिश समाजवादी संगठन है, जिसकी विचारधारा दूसरे समाजवादी संगठनों से थोड़ी अलग है। वह मानती है कि व्यवस्था में बदलाव लाने के लिए तख़्तापलट करने की ज़रूरत नहीं है; बल्कि व्यवस्था में जो कमियां हैं, उन्हें सुधारवादी व लोकतान्त्रिक तरीके से ठीक किया जा सकता है। अनसूया को इस विचारधारा ने काफ़ी प्रभावित किया। अपनी व्यवस्था में क्या दिक़्क़तें हैं, वह अच्छे से समझ रही थीं, बस अब सवाल था कि उन्हें ठीक कैसे किया जाए।

गुजरात का अहमदाबाद टैक्सटाइल इंडस्ट्री का एक बड़ा गढ़ है। भारत लौटने के बाद इन टैक्सटाइल कामगारों के अधिकारों के लिए काम करने का फैसला अनसूया ने लिया। लौट कर अनसूया ने महिला कामगारों की मूलभूत जरूरतों के लिए कई कार्यक्रमों की शुरुआत की। अनसूया के ये कार्यक्रम टेक्सटाईल मिल के परिसर में रहने वाली महिला मजदूरों और उनके बच्चों के लिए थे। उन्होंने बच्चों के लिए स्कूल और क्रेश खोले और महिलाओं के लिए शौचालय बनवाए। जैसे-जैसे वह इस क्षेत्र को करीब से देख रही थीं, कामगारों की बदहाल स्थिति उन्हें परेशान करने लगी। एक सवेरे जब उनकी नज़र कुछ महिला मजदूरों पर पड़ी... वे महिलाएं ऐसे चल रही थीं जैसे उनके शरीर में ताकत ही न हो। ये महिला कामगार लगभग 15 की संख्या में थीं। अनसूया ने उनसे पूछा कि क्या वजह है कि वे इतनी थकी हुई सी हैं? कामगारों ने बताया कि वे बिना ब्रेक के पिछले 36 घंटे से काम कर रही हैं। वे मना भी नहीं कर सकतीं, क्योंकि उनको काम न मिलने का ख़तरा है। इस घटना ने अनसूया पर गहरा प्रभाव डाला। अनसूया ने कपड़ा उद्योग के मजदूरों को एकजुट किया और उनके अधिकारों के लिए लड़ने का फैसला लिया। काम की बेहतर स्थिति और काम के निश्चित घंटे की मांग को लेकर इन

कामगारों ने अनसूया के नेतृत्व में आवाज़ उठाना शुरू किया, जो साल 1914 में 21 दिनों की लंबी हड़ताल में तब्दील हो गया। काम की बेहतर स्थिति, निश्चित घंटे और उचित भुगतान की मांग के साथ यह विरोध धीरे-धीरे आंदोलन बनता गया।

साल 1917 में, अहमदाबाद में प्लेग की महामारी बुरी तरह फैली हुई थी। बड़ी संख्या में लोगों ने जान गंवाईं। इस बीमारी के डर से लोग शहर को छोड़ कर जाने भी लगे। ऐसे में मिल मालिकों के सामने कामगार की कमी का संकट गहराने लगा और मजदूरों को पलायन करने से रोकने के लिए उन्होंने तनख़्वाह के साथ पचास फ़ीसदी बोनस देने की घोषणा की। मजदूरों का पलायन रुक गया, क्योंकि रोजी-रोटी का सवाल तो उन्हें परेशान कर ही रहा था। लेकिन जब थोड़े हालात बेहतर हुए तो मिल मालिकों ने बोनस देना बंद कर दिया। और जैसा कि होता है-किसी भी महामारी के बाद महंगाई आसमान छूने लगी, बोनस बंद करने की घोषणा से कामगार सकते में आ गए। वे अपनी समस्याओं को लेकर मोटा बेन के पास आए। मिल मालिकों से बातचीत कर इस मसले को सुलझाने की कोशिश की गई, लेकिन वे अपने फैसले पर अड़े रहे। इस फैसले के खिलाफ़ जहां मजदूर हड़ताल पर चले गए, वहीं मिल मालिकों ने भी अपनी एसोसिएशन बना ली और जिसकी अध्यक्षता कर रहे थे अनसूया के भाई अंबा लाल। अब दोनों भाई-बहन एक दूसरे के खिलाफ़ खड़े थे। अनसूया कामगारों के अधिकारों के लिए खड़ी थीं, तो उनके भाई अंबा लाल मिल मालिकों की तरफ़ से कामगारों के अधिकारों के खिलाफ़। यह पूरी घटना गांधी जी के कानों तक आई, तो उन्हें इसमें हस्तक्षेप करने की ज़रूरत महसूस हुई। दोनों भाई-बहन को उन्होंने अपने आश्रम में बुलाया और दोनों से बातचीत के बाद यह हड़ताल 35 प्रतिशत बोनस देने के फैसले के साथ ख़त्म हुई।

1918 अनसूया के लिए अहम् साल रहा था। इस साल उन्होंने गांधी जी के विचारों से प्रभावित हो कर उनके रास्ते पर चलने का फैसला लिया। अनसूया एक ऐसी ट्रेड लीडर थीं जो ताल्लुक तो मिल मालिकों के घराने से रखती थीं, लेकिन उनके खिलाफ़ जाकर मजदूरों के हक़ों के लिए लड़ती थीं। अनसूया साराभाई को गुजरात में श्रम आंदोलन की शुरूआत करने वाली पहली महिला के तौर पर जाना जाता है। उन्होंने 1920 में भारत के कपड़ा कामगारों के सबसे पुराने संघ 'अहमदाबाद टैक्सटाइल लेबर एसोसिएशन की स्थापना की ।

इतना आसान नहीं था अनसूया से मोटाबेन बनने का उनका सफर। अनसूया एक साधारण जीवन जीते हुए, ता-उम्र कामगारों, महिलाओं के अधिकारों और पूंजीवाद के खिलाफ़ आवाज़ उठाती रहीं। सोचिए और खुद को टटोलिए कि कहीं आप में और मुझ में भी तो एक मोटाबेन नहीं! जो अपने शहर, गांव, कस्बे या किसी बस्ती में बैठी महिलाओं को संगठित कर रही है और उनके हक़ों की बात कर रही है। हम सब भी मोटाबेन जैसा सोच सकते हैं और काम भी कर सकते हैं। सिर्फ़ अपने को पहचानने की ज़रुरत है। जब समाज में बेहतर व्यवस्था होगी तो उसके सुख हम तक भी आएंगे। तो यह बात साफ़ है कि समाज की बेहतरी के साथ-साथ हम अपनी बेहतरी के लिए भी एकजुट हो रहे हैं।

बाजू हटो ! हम लोग आगे चलते हैं

मीना मेनन-कामगार अधिकार कार्यकर्ता

1981 के सितंबर में मुंबई के कपड़ा मिल के कामगार जब एक दिन की हड़ताल में गए तब किसी को भी इस बात का अंदाज़ा नहीं था कि यह हड़ताल आगे होने वाले, जनवरी 1982 की उस ऐतिहासिक हड़ताल की शुरूआत है जो दो साल तक चली और जिसमें दो लाख से भी अधिक कपड़ा मिल के कामगार शामिल थे। कामगारों के इस संघर्ष के शुरूआती दौर में वेतन और बोनस को लेकर धरना-प्रदर्शन हो रहे थे, और सबकी उम्मीद यही थी कि हमेशा की तरह इस बार भी धरना प्रदर्शन के बाद मिल मालिक, कामगारों की कुछ मांग मान लेंगे और कुछ के लिए कामगार पीछे हो जायेंगे। लेकिन इस बार ऐसा नहीं हुआ। बोनस के मुद्दे ने इस बार ज़ोर पकड़ लिया था। बोनस का मामला कुछ इस तरह से था कि भुगतान किए जाने वाले बोनस की रकम में मिल दर मिल अंतर था। और नए बोनस भुगतान अध्यादेश में लाभ में हिस्सेदारी की जगह उत्पादकता से बोनस को जोड़ कर देखने की बात थी, जो कि बहुत कम पड़ रहा था। कामगारों को बोनस का यह नया सूत्र स्वीकार्य नहीं था, वह अभी तक बोनस के भुगतान की एक तरह से लाभ के आपसी बंटवारे और मजदूरों के योगदान के बदले में उन्हें दिए जाने वाले इनाम के तौर पर देख रहे थे। कामगारों ने इसका विरोध किया। इस हड़ताल के कई सारे पक्ष ऐसे हैं जो इसे अन्य हड़तालों से अलग बनाती है। एक तो इतने लंबे समय तक चलने वाली हड़ताल, दो से ढाई लाख कामगारों की इसमें भागीदारी और स्थापित मजदूर संघों और उनके लीडर्स की जगह पर कामगारों द्वारा हड़ताल में अगुवाई करने के लिए मजदूर नेता दत्ता सामंत का चुनाव करना। एक प्रशिक्षित मेडिकल डॉक्टर दत्ता सामंत ने कई कंपनियों में कामयाबी के साथ हड़तालों की अगुवाई की थी।

दत्ता सामंत ने स्टैंडर्ड मिल्स के बाहर दिए गए भाषण में, जिसमें लाखों की संख्या में कामगार मौजूद थे, साफ़-साफ़ कह दिया कि यह संघर्ष सिर्फ़ ज़्यादा बोनस के लिए नहीं किया जाएगा; बल्कि यह वेतन को बढ़ाने और बदलियों के स्थायीकरण के लिए भी होगा। यह घोषणा हर कपड़ा मिल तक पहुंच गई और कामगारों का यह संघर्ष आंदोलन में बदल गया। हड़ताल के समाप्त होने तक जो कि करीब दो सालों तक चली-हज़ारों कामगार अपनी नौकरी गंवा चुके थे और कई मिलों पर ताला पड़ चुका था। दत्ता सामंत के नेतृत्व में हुए इस आंदोलन ने अपने साथ कई महिला युवा नेताओं को भी जोड़ा था, इनमें से एक हैं मीना मेनन। मीना मेनन कामगारों के अधिकारों के लिए लंबे समय से संघर्षरत् हैं। आइए उनसे बातचीत करके गिरनी कामगार आंदोलन के अलग-अलग पहलुओं को जानते हैं और मीना जी की अपनी निजी संघर्ष यात्रा से भी प्रेरणा लेते हैं-

सवालः क्या आप मुंबई के गिरनी मिल कामगारों के संघर्ष के बारे में थोड़ा बता सकती हैं और आप किस तरह से इस संघर्ष में शामिल हैं?

मीना मेननः इमरजेंसी के बाद थोड़े समय तक मैं आदिवासियों के साथ और किसान आंदोलन के साथ जुड़ी थी और बाद में मैं छोटे कारखानों के कामगारों की एक यूनियन के साथ जुड़ी और उनके साथ काम शुरू किया। उस दौरान मैंने यूनियन का काम सीखा। फिर अलग-अलग आंदोलन में शामिल होते हुए मैं और मेरी साथी गायत्री सिंह जो पेशे से वकील हैं, हम दोनों ऊनी (वुलेन) मिल वाले कामगारों की एक यूनियन के साथ जुड़े। उस समय काफ़ी ऊनी मिलें बंद हो गई थीं। हमने कामगारों के अधिकारों के लिए काफ़ी काम किया। 'रास्ता रोको' आंदोलन भी चलाया गया। तभी मुंबई शहर के गिरनी (एक मराठी शब्द है जिसका मतलब है मिल) कामगार हमारे पास आए और हमने कहा कि अगर हम उनके साथ काम करेंगे तो उनकी ताक़त बढ़ेगी। ये 10 गिरनी (मिल) के कामगार थे, ये उन्हीं मिलों में से थीं जो 1982-83 की मशहूर हड़ताल के बाद बंद हुई थीं। इस हड़ताल में मजदूरों की मुख्य मांगें थीं कि उनका बोनस और वेतन बढ़ाया जाए। उनकी मांगें भी पूरी नहीं हुईं और इस हड़ताल के दौरन और उसके बाद में मजदूरों ने काफ़ी कुछ झेला, किसी के पास कुछ खाने को भी नहीं बचा था। एक चीज ज़रूर खलती है कि दत्ता सामंत जो एक ट्रेड यूनियन नेता थे, जिनके नेतृत्व में ये हड़ताल चलायी गई थी, उन्होंने राजनीतिक दबाव के चलते हड़ताल बंद नहीं करवाई। मिलें बंद हो गईं, मजदूरों का काम हमेशा के लिए ही छूट गया और मुंबई शहर की कहानी ही बदल गई। मिल की ज़मीन पर बड़े-बड़े मॉल बन गए।

गिरनियों में काम करने वाले मजदूरों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण इतिहास है। मुंबई में गिरनी कामगारों का काफ़ी नाम है, उनके सांस्कृतिक समूह काफ़ी मशहूर हैं। वो मुंबई शहर के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में पूरे तरीके से शामिल हैं और शहर को उनकी तरफ़ एक सहानुभूति है। जब गिरनी कामगार हमारे पास आए, हमने निर्णय लिया कि हम उनके मुद्दे पर ज़रूर काम करेंगे और उनकी मांगें सरकार के सामने रखेंगे और आंदोलन चलाएंगे। ऐसे हम गिरनी कामगारों के साथ जुड़ गए।

सन् 1989 में 10 बंद मिलों के कामगारों ने मिलकर गिरनी कामगार संघर्ष समिति बनाई। इस समिति में हम 6 अलग-अलग राजनीतिक दलों के लोग शामिल थे। मैं तब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सी.पी.आई.)-मार्क्सवादी लेनिनवादी (एमएल) से जुड़ी थी, वामपंथी पार्टी से गायत्री सिंह, सोशलिस्ट पार्टी से दत्ता इस्वालकर, कांग्रेस

के बाल नार, शिवसेना के प्रवीण घाग और सी.पी.एम. के विट्ठल घाग थे। हम सबने अलग-अलग पार्टियों और अलग-अलग सोच के होने के बावजूद इकठ्ठे होके काम करना शुरू किया और कभी विभाजित, अलग नहीं हुए। मुझे लगता है अलग-अलग पार्टियों से आने की वजह से हमारी ये अपेक्षा ही नहीं थी कि हम लोग हर चीज़ के बारे में एक मत रखेंगे। इस वजह से हमारे बीच काफ़ी चर्चा और बहस भी होती थी, लेकिन हमें हर चीज़ को 1-1.5 घंटे की बैठक में खत्म करना होता था, निर्णय लेना होता था, ये एक बिन-लिखा नियम था। अपने मतभेद की वजह से काम नहीं रोकते थे, क्योंकि मजदूरों के पास चर्चा करने के लिए उतना वक्त नहीं होता। मेरा वामपंथी पार्टी का, लोकतंत्र का एक अलग अनुभव था। मैंने इस समिति में आकर पहली बार आंतरिक लोकतंत्र के बारे में सीखा, खास करके ये कि जो बहुमत/ज़्यादा लोगों का निर्णय हो, उसके साथ चले जाना चाहिए। मुझे लगता है कि एक कार्यकर्ता को मजदूरों के साथ जाके ज़रूर काम करना चाहिए, क्योंकि जिस तरह से मजदूर सोचते हैं, हम कार्यकर्ता लोग वैसा नहीं सोचते हैं। हम 6 लोग जो 'बंद गिरनी संघर्ष समिति' में शामिल हुए थे, उनका एक समूह बन गया राणनीति बनाने के लिए और हमने गिरनी मजदूरों के अधिकारों के लिए एक लड़ाकू आंदोलन शुरू कर दिया। हमारे साथ कॉलिन भी जुड़ गए जो गायत्री सिंह की तरह पेशे से वकील हैं, दोनों ने साथ मिलकर मजदूरों के केस फ़ाइल करने शुरू कर दिए। संघर्ष की मुख्य मांग थी कि मजदूरों को उनका पैसा वापस मिलना चाहिए और सब लोगों को एक मजबूत आंदोलन की वजह से उनका पैसा मिल गया। गिरनी कामगारों का आखिरी संघर्ष था-आवास को लेकर। उन्होंने मांग रखी थी कि कपड़ा मिल का एक हिस्सा उन्हें मिले, इसको लेकर भी काफ़ी आंदोलन चला। डेढ़ लाख मजदूरों ने आवास के लिए आवेदन किया जिसमें से सरकार से सिर्फ़ चौथाई मजदूरों को ही आवास मिला है। ये लड़ाई अभी भी चालू है।

सवालः गिरनी कामगार महिलाओं ने इस आंदोलन में क्या भूमिका निभाई है?

मीना मेननः ये बात सच है कि इस गिरनी कामगार आंदोलन में अधिकतर पुरुष थे, पर महिलाएँ भी इसमें काफ़ी सक्रिय रही हैं और आंदोलन में बड़े पैमाने पर उतरी हैं। 1982-83 की हड़ताल के पहले भी जब हड़ताल होती थी, महिलाएं उसमें काफ़ी लड़ाकू तरीके से शामिल रहती थीं। बिटिया मिल (जिसका नाम अब फ़ीनिक्स मिल्स है) में 1930 के दशक में महिलाओं द्वारा हड़ताल चलाई गई थी। वो प्रबंधन द्वारा अपने कार्यभार को दुगुना करने का विरोध कर रही थीं। ये हड़ताल काफ़ी मशहूर रही। महिलाओं ने घेराव किया था, ट्रेड यूनियन के इतिहास में शायद पहली बार। मिल मालिक और प्रबंधक/मैनेजर को महिला कामगारों ने 2 घंटे कारखाने के अंदर बंद कर दिया था। मेरे हिसाब से महिला आंदोलन के इतिहास में सबसे लड़ाकू महिलाएँ गिरनी कामगार ही थीं। और ऐसा इसलिए था, क्योंकि वो संगठित थीं। उनको समुदाय का भी सहयोग था।

महिलाओं ने मिलों में काम करते हुए काफ़ी कुछ झेला था, मिलों में काम करना आसान नहीं होता। ये महिलाएं काफ़ी मजबूत थीं। लोग उन्हें मूर्ख नहीं बना सकते थे। मुझे और गायत्री सिंह को बोलती थीं-'बाजू हटो, हम लोग आगे चलते हैं'-हमें संरक्षित करती थीं। वो स्टेज के ऊपर से विरोध प्रदर्शन के समय ऐलान करती थीं-'कल गिरनी मजदूर महिलाएं एक साथ रास्ते पर उतरने वाली हैं, आप किसी को भी लाओ, हम एक गाड़ी नहीं जाने देंगे। हमारा मंगलसूत्र और सोना सब घर पर रखके आये हैं। हमें गिरफ़्तार करो'। सरकार और पुलिस को महिला कामगारों से काफ़ी डर लगता था। मेरा मानना है कि जब मजदूर महिलाएं आंदोलन में उतरती हैं न, वो अलग

ही चीज है, सही लड़ाई वो ही लड़ सकती हैं। पर महिलाएँ ना! आपातकालीन बल की तरह हैं। उनके पास इतना समय नहीं रहता। उनके ऊपर काफ़ी ज़िम्मेदारियाँ हैं, घर संभालो, बच्चे संभालो, बहुत काम हैं। एक बात ये भी थी कि-वामपंथियों ने महिलाओं को केवल लड़ाकू रूप में दिखाया, पर महिला कामगारों को गुस्सा, लड़ाकापन हमेशा नहीं भाता है।

सवालः क्या गिरनी कामगार आंदोलन में महिलाओं द्वारा मातृत्व-सुरक्षा का मुद्दा, यौन उत्पीड़न का मुद्दा, काम की जगह पर स्वास्थ्य-सुरक्षा का मुद्दा इत्यादि मुद्दे भी उठाए गए?

मीना मेननः मिल्स में इस तरीके के सवाल महिलाओं ने पहले ही लड़कर ले लिए थे। मातृत्व-सुरक्षा का हक़ वो ले चुकी थी। पर वो यौनिक उत्पीडन के खिलाफ़ लड़ना नहीं चाहती थीं, इसके बारे में अगर हम कभी पूछते थे तो उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उन्हें लगता था कि अगर ये मुद्दा उठाएंगे तो इस बात का ज़िक्र भी होगा कि किसका रिश्ता किसके साथ है। काफ़ी महिलाएं एकल थीं, तो वो ये बातें हमारे साथ नहीं करना चाहती थीं। कई शादीशुदा महिलाएँ हमें ये ज़रूर कहती थीं कि उनका यूनियन में होना उनके पति, सास-ससुर को पसंद नहीं है। हमने कोशिश की घरेलू हिंसा के बारे में पूछने की, पर वो लोग नहीं चाहती थीं कि वो मुद्दा हम उठाएं। हमने महिला संस्थानों को महिला कामगारों से जोड़ने की कोशिश की कि उनकी बात करने से घरेलू हिंसा और अन्य मुद्दे सामने आएंगे, पर ऐसा बड़े पैमाने पर कुछ निकल नहीं पाया। महिला कामगार हमसे अपने मुद्दों पर ज़्यादा बात नहीं करती थीं, क्योंकि हम यूनियन के काम में पुरुष और महिला दोनों का प्रतिनिधित्व करते थे। उनको लगता था कि हम बोलेंगे तो कहीं गड़बड़ तो नहीं हो जाएगी। महिलाएं आपस में भी एक दूसरे को बोलती थीं कि चुप बैठ, तो जो महिलाएँ हिंसा के मुद्दे पर कुछ बोलना चाहती थीं, वो भी बोल नहीं पाती थीं। हां, हम एक मुद्दे पर बात कर पाते थे-वो था लड़कियों की शिक्षा का मुद्दा। हम इस मुद्दे पर नियम से जागरुकता फैलाते थे, जल्दी शादी के खिलाफ़ भी बात करते थे। उसका असर ज़रूर हुआ होगा।

गिरनी के पुरुष कामगार महिला कामगारों का सहयोग करते थे। पुरुष कामगारों को अच्छा लगता था अगर महिलाएं आंदोलन चलाती थीं। वे उन्हें जगह देते थे, वे उनके कॉल पर उनके पीछे चलते थे। उनको लगता था कि महिलाओं के नेतृत्व में वो जीतेंगे। कामगार महिलाओं को बहुत सम्मान देते थे। मजदूर वर्ग में ये है, मध्यम वर्ग की महिलाओं को उतना सम्मान नहीं मिलता।

सवालः गिरनी महिला कामगार किन-किन नीतियों का इस्तेमाल करती थीं आंदोलन में?

मीना मेननः गाली-गलौज, मोर्चा, सब कुछ करती थीं महिलाएं। पुलिस भी उनसे डरती थी. वो पुलिस को कई बार गाली देती थीं, कई बार उन पर मज़ाक करती थीं। काफ़ी मनमोहक महिलाएँ थीं, बहुत मुश्किल था उनसे लड़ना। लड़ाकू भी थीं। वो हमसे कहती थीं ऐसे बैठके नहीं होगा कुछ, हम लोग तैयार हैं, चलो मोर्चा निकालते हैं। एक बार उन्होंने हमसे आकर कहा कि कोर्ट अरेस्ट करते हैं, यानि कि विरोध के रूप में गिरफ़्तारी की मांग करेंगे। ये उनका निर्णय था, हमारा नहीं। हमने फिर कहा चलो घोषणा करो, पता नहीं उन्होंने घोषणा की कि नहीं, पर 3 मिनट में मुख्यमंत्री का फ़ोन आया दत्ता को कि तुम लोग ऐसा क्यों कर रहे हो, महिलाओं को बोलो हमसे आके बात करें। वो मंत्री को भी जाके गाली देती थीं। उनसे मंत्री भी डरते थे।

सवालः क्या गिरनी मजदूरों में धर्म या जाति को लेकर कभी कोई भेदभाव होता था?

मीना मेननः गिरनी मजदूर विविधता को एक सकारात्मक तरीके से देखते थे। उनमें से काफ़ी लोग मराठा थे, हिंदू धर्म के थे, पर काफ़ी समावेशी थे। सबको साथ लेकर चलते थे, सहनशील थे। उनकी ऐसी संस्कृति नहीं थी कि अगर कोई मुसलमान है तो उसे गाली दो।

जाति की अगर हम बात करें तो पहले-पहले दलितों का पानी अलग रखा जाता था गिरनी में। सब लोग इकट्ठे बैठकर खाना खाते थे, तो दलित अपना खाना दूसरों को नहीं देते थे। मिलों में अलग-अलग शिफ़्ट में मजदूर काम करते थे। वहां एक प्रक्रिया होती थी जिसमें सूती धागे को अपने मुंह के थूक से गीला करना होता था। इसकी वजह से जब दूसरी शिफ़्ट में अन्य जाति के मजदूरों को आना होता था तो उनका ये कहना होता था कि अगर दलित, महार, मतंग मजदूर वहां काम करेंगे तो वो नहीं करेंगे। उस समय बी. आर. अम्बेडकर भी काम करते थे मिल मजदूरों के साथ जाति भेदभाव के मुद्दे पर। वो इस बात पर बहुत गुस्सा हो गए और उन्होंने बोला और लिखा कि वामपंथियों को जाति के मुद्दे को और गंभीरता से उठाना चाहिए। पर बदलाव धीरे-धीरे आता है। ये बात अच्छी थी कि यूनियन ने मजदूरों की इस मांग को नहीं माना। मिल्स के मालिकों ने भी इस बात को नहीं माना। मजदूरों को बोला गया कि सब जाति के लोग मिलों में काम करेंगे, जिसको दिक़्क़त हो, वो ना आए काम पर।

धीरे-धीरे स्थिति कुछ बदली। ऐसा भी हुआ कि अन्य शहरों से जैसे कि यू.पी. के लोगों को मिलों में लेना शुरू किया। मराठी लोग यू.पी. के लोगों के नाम से उनकी जाति को पहचान नहीं सकते थे ना! जाति से जुड़ी दिक़्क़तें थोड़ी कम हुईं। दलितों का पानी अलग से रखना पहले बंद हुआ, पर खाना खाते समय दलितों का खाना दूसरी जाति के लोग खाते नहीं थे और दलित दूसरी जाति के लोगों को अपना खाना देते नहीं थे। आहिस्ते-आहिस्ते ये भी काम हुआ। मजदूरों का लड़ाकू तरीके से सामुदायिक नज़रिया नहीं था, पहली बार जब दंगे हुए थे, उस समय उन्होंने झुंड बना-बनाकर बहुत लोगों को बचाया, होने नहीं दिया कुछ भी। पर आख़िरी दंगों में हमले भी हुए। एक बार मैंने मजदूरों से दंगों पर बात करने की कोशिश की, पर मुझे मजदूरों ने मना कर दिया। हमने और कोशिशें कीं, आनंद पटवर्धन की फ़िल्म दिखाई, बात की। हम हल्दी-कुमकुम में, पूजा में जाते थे, क्योंकि हमें वहीं मौका मिलता था ज़्यादा महिलाओं से घुलने-मिलने का, बात करने का। मुस्लिम, दलित कामगार भी आते थे, हमने ऐसा ही माहौल बनाया था वहां।

सवालः क्या आपको आंदोलन में आसानी से अपनाया गया? आप एक कामगार नहीं हैं और इस आंदोलन में जुड़ना चाहती थीं, क्या आपके लिए कोई चुनौतियाँ रही हैं?

मीना मेननः मध्यम वर्ग के ट्रेड यूनियन नेता, साथी कार्यकर्ताओं से मुझे दिक़्क़त ज़्यादा हुई। कामगारों ने मुझे हमेशा अपनाया। लोग कहते हैं कि मेरे वर्ग की वजह से ऐसा होता है, पर मेरा ये मानना है कि ऐसा नहीं था, गिरनी कामगार पुरुष जितना मेरा सम्मान करते थे, उतना ही गिरनी की संगठित महिलाओं का भी सम्मान करते थे। जो महिलाएं संगठित नहीं थीं, उनके साथ कैसा होता था, मुझे नहीं पता।

सवालः क्या आपको कभी ऐसा लगा कि कोई रणनीति काम नहीं आई, ऐसा नहीं करना चाहिए था?

मीना मेननः हमने सीखा कि जब मजदूरों के साथ काम करते हैं, तो ये समझना ज़रूरी है कि हम उनसे अलग हैं, उनके जैसे नहीं हैं। एक हद तक ही हम उनकी सोच बदल पाते हैं। अगर कुछ मेन-मेन लोगों की भी बदल जाए, तो भी अच्छा है। वो हर मुद्दे पर हमारी मानेंगे, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। हमें बिल्कुल नहीं सोचना है कि हम उनके घर में जाके उनकी संस्कृति बदल सकते हैं। हम लोग सोचते भी नहीं थे कि हम नेता हैं। ना तो ये लोकतांत्रिक तरीका है, और ना ऐसा सोचने से कोई फायदा होता है। ऐसा सोचना मध्यम वर्ग का अहंकार है। मध्यम वर्ग वाले लोगों को ये भी लगता है कि मजदूर अनपढ़ हैं, उनकी सोच विकसित नहीं है, पर मैंने आंदोलन से सीखा कि उनकी सोच काफ़ी विकसित है, चाहे वो उनके सामाजिक संबंध हों या उनकी सोच या बात करने का तरीका हो। वो अलग-अलग चीज़ों को स्वीकार करते थे, जो मध्यम वर्ग नहीं कर पाते थे। अगर मजदूर किसी बात पर असहमत होते थे तो वो चुप हो जाते थे। मुझे समझ आ जाता था कि शायद मैं बहुत आगे चली गई हूं, तो मैं वापस आती थी। उनसे उनकी राय पूछती थी, अपनी बातें थोपती नहीं थी। फिर जाकर वो मुझे असहमत होने का कारण बताते थे। मध्यम वर्ग को लगता है कि हम उन्हें सिखा रहे हैं, ये सोच गलत है, हम उनसे सीखते भी हैं। मैंने उनसे सहनशीलता सीखी।

मजदूरों के साथ बरसों से सांस्कृतिक आंदोलन भी चल रहे हैं। गणेश उत्सव की अगर बात करें तो हम लोग समझेंगे कि वो एक हिंदू त्योहार है, पर उसमें कितने संदेश हैं धर्मनिरपेक्षता पर, महिला के सवाल पर, संस्कृति का काफ़ी असर हुआ है मजदूरों की सोच पर। अगर मजदूरों के साथ काम करना है तो मंदिर का संघर्ष हो या मस्ज़िद का, हमें शामिल होना होगा, बॉलीवुड की जानकारी भी रखनी होगी। यही सब उदाहरण दे के उनके साथ काम किया जा सकता है। पहली बैठक में हम सिर्फ़ क्रांतिकारी गाने चलाते थे, पर धीरे-धीरे मैंने सीखा एक जन-कार्यकर्ता होने के नाते कि हम कौन होते हैं ये तय करने वाले, ये मजदूर ही तय करेंगे। हमने काफ़ी कुछ सीखा उनसे, कभी कुछ थोपा नहीं, इस वजह से मोहब्बत का एक रिश्ता बना हमारा उनसे। हम पहले बहुत सोचते थे कि क्या पहन के जाएं बैठकों में। मैं तो वैसे हमेशा साड़ी पहनती थी, एक बार मुझे और गायत्री को दत्ता ने समझाया कि मजदूरों के साथ तुम्हारा एक रिश्ता बन गया है, उनको तुमसे प्यार हो गया है, अब फ़र्क़ नहीं पड़ेगा कि तुम्हारी पोशाक क्या है। हमें इस बात ने काफ़ी प्रभावित किया था। पर ऐसा इसलिए भी है कि गिरनी मजदूर अलग थे, 100 सालों का संघर्ष किया है, तो अलग ही होंगे ना! क्या पहना है, कैसे पहना है, इसका फ़र्क़ मध्यम वर्ग के लोगों को पड़ता था, मजदूरों को नहीं। कुछ कार्यकर्ता तो मजदूरों के साथ काम करने के लिए फटे हुए कपड़े रखते हैं। मुझे पाखण्ड बिलकुल पसंद नहीं है। मजदूर खूब अच्छे से नहा-धोकर, तैयार होके यूनियन बैठक में आते थे। ये उनकी ज़िंदगी का एक खास भाग, उनका तरीका था यूनियन की जगह, उससे जुड़े मूल्यों का सम्मान करने का। तो हम भी ठीक से तैयार होकर जाते थे।

कई कार्यकर्ता तो हमें नारीवादी भी नहीं मानते थे, क्योंकि हम महिलाओं के साथ उनके मुद्दों पर काम नहीं करते थे, हम मजदूरों के साथ काम करते थे। हमारा मानना है कि हाशियाकरण नहीं होना चाहिए; यानि किसी व्यक्ति या समूह को किनारे में नहीं धकेलना चाहिए। एक महिला, महिलाओं के मुद्दों पर भी काम कर सकती है, दलितों के मुद्दों पर भी, बच्चों के मुद्दों पर भी, मजदूरों के मुद्दों पर भी। जो ज़रूरी हो, वो करना चाहिए। कुछ लोग ज़रूर होने चाहिए जो समुदाय और मुद्दों को केंद्रित करके काम करें। जब ऐसे सभी अलग-अलग लोग इकठ्ठा होकर काम करते हैं, तभी आंदोलन बनता है, राजनीति होती है, बदलाव आता है।

सवालः मीना जी आपका कामगार आंदोलनों से जुड़ाव कैसे हुआ?

मीना मेननः मैं पहले महिला आंदोलन में शामिल थी। मैंने अपनी पढ़ाई हैदराबाद के उस्मानिया विश्वविद्यालय में की थी। मेरे साथ वहां के.ललिता भी थीं, उमा रामास्वामी और गीता रामास्वामी भी पढ़ते थे। ये सब कार्यकर्ता हैं और उन्होंने कई किताबें भी लिखी हैं। हम सब लोग चाहते थे कि समाज में महिलाओं की एक आवाज़ हो। उस समय तक महिलाओं की संस्थाएं और समूह जो खासकर वामपंथी संस्थाओं से जुड़े थे, जिस तरह से सवालों में उठ रहे थे, हमको लगा कि उसमें अच्छी तरह से पितृसत्ता का ज़िक्र नहीं हो रहा था, उसका विश्लेषण नहीं हो रहा था और ना ही उसके खिलाफ़ काम करने की एक रणनीति बन रही थी। ये सब करना बहुत ज़रूरी है, तो हम लोग प्रभावित थे महिला मुक्ति आंदोलन से जो संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोप वगैरह में चल रहा था। हमको लगा कि खासकर के जो आंदोलन संयुक्त राज्य अमेरिका में चल रहा था, उसको पढ़ना ज़रूरी है, समझना ज़रूरी है और इसलिए उसे अपने अनुभव के साथ जोड़ना और उससे क्या निकलता है, वो हम देखेंगे। तब हम लोगों ने विश्वविद्यालय में काम कर रहे वामपंथी समूहों, साथियों से चर्चा की। काफ़ी प्रतिरोध भी मिला, लेकिन हम डटे रहे और हम लोगों ने एक संस्था बनाई जिसको हमने नाम दिया POW (महिलाओं का प्रगतिशील संगठन)। मैं उस समय शायद 17 साल की थी और मेरा पहला साल था एम.ए. का। POW के बारे में मेरे साथी और प्रसिद्ध अमेरिकी समाजशास्त्री गेल ओमवेट ने काफ़ी विस्तार से लिखा है। POW भारत में पहली नारीवादी संस्था थी। के. ललिता POW की अध्यक्ष थीं और मैं महासचिव थी। हम लोग काफ़ी मुद्दों पर काम करते थे-दहेज के खिलाफ़ पोस्टर जिस तरह से महिलाओं को दर्शाते थे, उसके खिलाफ़ और फिर जनरल मुद्दों पर भी हम लोग काम करते थे, जो छात्रों के मुद्दे थे। प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक छात्र संघ (पी.डी.एस.यू.) जो छात्रों का सबसे महत्त्वपूर्ण संघ था, वो विश्वविद्यालय के परिसर में था, हम लोग उनके साथ भी चर्चा करते थे। हम सभी छात्र आंदोलन के साथ जुड़े रहते थे, और इसमें महिलाओं का एक्टिविज़्म करते थे और पितृसत्ता के बारे में काफ़ी लड़ाकू तरीके से हम लोग अपनी राय देते थे और निर्णय लेते थे। इसकी वजह से काफ़ी विवाद भी खड़े हुए, लेकिन मेरे लिए वो एक बहुत अच्छा अनुभव था। हमने कई मोर्चे भी निकाले, पहली बार हैदराबाद में इतनी बड़ी संख्या में महिलाओं ने हमारे एक मोर्चे में हिस्सा लिया था, छात्र भी थे, अध्यापक भी थे, बाकी मध्यम वर्ग के लोग भी थे। POW से ही बाद में स्त्री शक्ति संगठन बना। ऐसे संगठन ही आपातकाल के बाद उस इतिहास को आगे लेके जा रहे थे। आज भी POW है, लेकिन आज वो वामपंथियों के साथ और उनसे प्रभावित होके ज़्यादा चल रहा है, हम लोग से काफ़ी स्वतंत्र तरीके से चलाते थे।

1975-77 की इमरजेंसी के तुरंत बाद हमारे खिलाफ़ वॉरंट निकले और के. ललिता, मैं और 2-3 और लोग, हम लोग अंडरग्राउंड चले गए। तो बाद में के. ललिता तो गिरफ़्तार हो गई, उन्हें काफ़ी उत्पीड़ित भी किया गया। मैं और कुछ और लोग अंडरग्राउंड रहे इमरजेंसी खत्म होने तक। तो यही हमारी शुरूआत थी.

सवालः आप इतने सालों से मुद्दों पर काम कर रही हो, कभी थके या कभी निराशा के कुछ पल आये, ऐसा लगा कि अब बस छोड़ दूं ये सब ?

मीना मेननः नहीं, मैंने बहुत अलग-अलग तरीके से काम किया ना! तो कभी थकान नहीं हुई. बोर होने का भी कोई मौका नहीं था। मैंने नया-नया काम किया। नये लोगों के साथ काम किया। नए लोगों को जुड़ना चाहिए

संगठनों में। एक नई ऊर्जा आती है. मेरे लिए मेरा काम जीवन जीने का एक तरीका है। कभी बर्न-आउट जैसा महसूस नहीं हुआ मुझे, शायद कभी ना कभी आएगा, पर वो अभी नहीं हुआ है।

सवालः क्या आज युवा मजदूर आंदोलन में रुचि ले रहे हैं?

मीना मेननः आजकल ज़्यादा युवा, खासकर के मध्यम वर्ग के युवा आंदोलन में शामिल नहीं हो रहे हैं। उनके कॉलेज में ऐसी चर्चाएं नहीं हो रहीं। उनका इन मुद्दों से ज़्यादा जुड़ाव नहीं है। इसके कुछ कारण हैं। पहले कम पैसे में जी सकते थे, पर आज आजकल की पूँजीवादी दुनिया में पैसे कमाने के बिना चलता नहीं है। लोग आर्थिक असुरक्षा से डरते हैं। यही स्थिति कुछ हद तक मजदूर वर्ग की भी है। पहले मजदूरों का जुड़ाव गाँव से ज़्यादा था, परिवार का सहयोग मजबूत था। अगर हड़ताल करते थे तो फ़िक्र नहीं होती थी कि पैसा नहीं कमाएँगे तो खाना कैसे मिलेगा। आजकल परिवार संयुक्त नहीं हैं, छोटे हो गए हैं। खुद ही कमाना पड़ता है, अगर नहीं कमाया तो गुज़ारा नहीं होगा।

साथ ही में युवा वामपंथी विचारधारा के तहत मजदूर आंदोलनों से ज़्यादा, राजनीतिक पार्टियों, खासकर के दक्षिण-पंथियों की गतिविधियों में ज़्यादा जुड़ रहे हैं। युवाओं को आजकल सामाजिक चेतना नहीं लुभाती। वो सोचते हैं कि क्या ही मिलेगा सामाजिक मुद्दों पर काम करके। मध्यम वर्ग की तुलना में मजदूर वर्ग से, दलित युवा आज भी आंदोलनों में जुड़ रहे हैं। हमें सोचना होगा कि कैसे हम ज़्यादा से ज़्यादा युवाओं को मजदूर आंदोलनों में जोड़ पाएं।

सवालः क्योंकि आप एक महिला कार्यकर्ता हैं, आपने अपनी पूर्णकालिक सक्रियता का निजी ज़िंदगी के साथ कैसे तालमेल किया?

मीना मेननः ये बहुत बड़ा सवाल है, बहुत महिला कार्यकर्ताओं को लगता है कि वो असफल रह गई हैं, निजी ज़िंदगी के कई आयामों में। उन पर आरोप लगा कि परिवार पर वो ध्यान नहीं दे पाईं। महिला कार्यकर्ता हमेशा अपराध बोध में भी रहीं। खासतौर से उनके बच्चों पर इसका बुरा असर पड़ा। एक कार्यकर्ता के लिए अच्छी मां बनना बहुत मुश्किल होता है। ये इसलिए भी समझा गया, क्योंकि हम मध्यम वर्ग की महिलाएँ हैं। मजदूर वर्ग की महिला कार्यकर्ताओं की अलग चुनौतियाँ होती हैं। कई महिला कार्यकर्ताओं/नेताओं का प्रचार भी होने लगा कि वो आदमियों के साथ घूमती हैं, शाम को देर से घर आती हैं, उन्हें 'चरित्रहीन' कहा जाने लगा। मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं हुआ, पर ये ज़रूर लगता है कि मेरे परिवार ने खासतौर पर मेरे पिताजी जो कि एक नेहरूवादी थे, उन्होंने मेरा बहुत साथ दिया, पर मैं उनके लिए कुछ खास नहीं कर पाई। बहुत सारे लोगों को तकलीफ़ और दर्द दिया। मैंने उनके मरते समय देखभाल ज़रूर की। मेरी साथी के. ललिता के पिताजी गुजर गए, पर वो उन्हें देखने भी नहीं जा पाईं। आज भी उनके मन में ये दर्द है, उनके पिताजी ने भी उनका बहुत सहयोग किया था।

मैं बहुत छोटी उम्र में एक कार्यकर्ता बन गई थी, तो मेरी सारी ज़िंदगी इसी काम में रही। मैं ज़्यादा समय परिवार से बाहर ही रही। गांधीवादी महिलाओं पर काफ़ी लिखा गया है, पर वामपंथी महिलाओं के निजी संघर्ष की कहानियां ज़्यादा नहीं लिखी गईं। लिखना चाहिए।

हम अकेली नहीं, कई सारी हैं!

'सेवा' जो एक आंदोलन है

'शांति और कितनी महिलाओ आने वाली है मीटिंग? मीटिंग शुरू करने का समय हो गया है।' स्मिता घडी की तरफ देखती हुई अपनी सहकर्मी शांति से पूछती है।

'दीदी बस 4-5 महिलाएं रास्ते में है। ऑफ़िस की तरफ आ रही हैं,.... मेरी उनसे बात हो गयी है।... आप शुरू कर दो मीटिंग... वो शामिल हो जायेगी।' शांति ने दरवाजे की ओर देखते हुए कहा।

'चलो बहनो सब शांत हो जाओ! हम मीटिंग शुरू करते हैं।' स्मिता ने महिलाओं को संबोधित करते हुए कहा। ये सुन कर सभी महिलाये जो कमरे में थी अपनी बातों को वहीं रोक कर ज़मीन पर बिछी चटाई पर बैठ गयीं ।

'इस महीने की बैठक में, आप सभी का स्वागत है'.... जैसा कि आप जानते हैं कि हर महीने एक दिन हम मिलते हैं और बात करते हैं की हम कैसे हैं..... हमारा काम कैसे चल रहा है? काम में कहीं कोई परेशानी तो नहीं आ रही है?.... नियोक्ता को लेकर.... या काम की जगह को लेकर। और हमने ये तय किया था कि असंगठित क्षेत्र की किसी भी महिला कामगार के साथ कोई परेशानी होगी तो हम मिलकर उसका समाधान निकालेंगे।' स्मिता ने सभी के चेहरे पर नज़र डालते हुए कहा।

'पिछले महीने तो पति के साथ काफी लड़ाई हुई.... रोज पीके आता है और मुझे बोलता है कि तू कमाती है ना.. .. इसलिए ताव दिखाती है.। मैंने भी कह दिया कि ये पैसे मैंने बड़ी मेहनत से कमाये हैं और इसका एक रुपया भी उसको नहीं दूंगी।...दीदी पैसा छीन करके पी जाता है.... मेरे लिए घर चलाना कितना मुश्किल हो जाता है।' हताशा वाले स्वर में चांदनी बोली। दूसरी महिला ने अपने ओवरटाइम की दिक्कत बताई, किसी ने बताया कैसे उसने नियोक्ता से लड़कर बीमारी की छुट्टी ली। तभी रोजी ने कहा-

'अरे मैं कब से सोच रही हूँ कि अपने लिए एक बड़ा ठेला खरीद लूं...... नीचे सामान लेकर बैठती हूं...पर अब थोड़ा सामान बढ़ गया है...और ठेला रहेगा तो...एक जगह से दूसरी जगह ले जाकर भी अपना सामान बेच पायेंगे।.... पर समझ नहीं आ रहा इसके लिए पैसा कहां से लाऊं?... बचत तो है ही नहीं। इतनी ही कमाई होती है कि रोज के खर्चे निकल जायें। रोज दस पांच रुपये खींचतान के बचा भी लेती हूं तो..... बेटा शराबी है वो निकाल लेता है।... क्या कोई बैंक है जो हम जैसे असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली महिलाओं को बिना किसी पचड़े के आसानी से लोन दे दे? बैंक जाने के बारे में सोचने से ही घबराहट होती है। बैंक वाले पता नहीं क्या-क्या कागज़ मांगते रहते हैं और इतना जल्दी बोलते हैं और इतने मुश्किल शब्दों का इस्तेमाल करते हैं, जिन्हें मैंने अपनी ज़िन्दगी में कभी सुना ही नहीं होगा।'

'ये बात तो बिल्कुल सच कही तुमने बहन! काश, हम जैसे लोगों के लिए भी कोई बैंक होता, जहाँ हमें कर्ज़ भी मिल जाता है और बचत कैसे करते हैं, ये भी समझाया जाता।' महिलाओं की ये चर्चा सुनने के बाद स्मिता बोली-

'रोज़ी ! जहाँ तक रेहड़ी-ठेला खरीदने की बात है.... आप एक सरकारी योजना का लाभ उठा सकते हो, जिसका नाम है प्रधानमंत्री स्वनिधि योजना।... इस योजना के तहत रेहड़ी-पटरी विक्रेताओं को लोन मिल सकता है।... इसके अलावा कई अन्य योजनाएं भी हैं, जिनके तहत लोन मिलता है, जैसे कि प्रधानमंत्री मुद्रा योजना, हां ये थोड़े बड़े व्यापार के लिए कर्ज देता है। इसका इस्तेमाल आप सब भी कर सकते हैं, अगर आपको कोई व्यापार शुरू करना है।'

'दीदी ! कितना अच्छा होता कोई ऐसा बैंक होता जहां हम महिलाएं अपने रोज़मर्रा के खर्चे से दस पांच रुपये बचाकर जमा करते, और फिर जब जरूरत होती तो उसका इस्तेमाल कर पाते। क्योंकि आपको पता है न! कई बार हमारे अपने परिवार वाले भी हमारे काम में पैसा लगाने को तैयार नहीं होते। हमारा अपना पैसा तो कुछ है ही नहीं!' रोजी ने स्मिता की तरफ देखते हुए कहा तो बाकि महिलाओं के चेहरे पर भी मायूसी दिखी।

सच में.... लेकिन आपको पता है! आप लोग जो बात बोल रहे हो और अपनी मजबूरी के बारे में बता रहे हो .... आपकी इस दिक्कत और परिस्थिति का एहसास आज से लगभग... साठ साल पहले इला बेन को हो गया था।....और उसका रास्ता इला बेन ने खोजा था।' स्मिता ने कहा।

'इला बेन ? स्मिता दी बताओं न उनके बारे में कुछ ! मैंने उनके बारे में अपने 'सेवा के साथियों से सुना है...पर मुझे बहुत दिनो से इच्छा थी उनके बारे में और जानने की। लक्ष्मी ने कहा।

'सेवा का पूरा नाम है- सेल्फ़ इम्प्लॉयड विमेन्स एसोसिएशन! यानि स्व-रोजगार महिला संघ!...... 'सेवा' महिला कामगारों का आंदोलन है... जिसकी नींव इलाबेन ने न केवल डाली थी बल्कि महिला कामगारों के बीच उसे मजबूत स्तंभ की तरह खड़ा किया।.... इलाबेन जिनका पूरा नाम इला भट्ट था, वह एक भारतीय वकील और सामाजिक कार्यकर्ता थीं जिन्होंने दशकों तक स्वरोजगार करने वाली महिलाओं के कामगार अधिकारों के लिए संघर्ष किया।

इस आंदोलन के शुरू होने की कहानी कुछ इस तरह से है कि टैक्सटाइल लेबर एसोसिएशन जो की भारत का सबसे पुराना और सबसे बड़ा कपड़ा श्रमिक संघ है, और जिसकी स्थापना 1920 में अनसूया साराभाई और महात्मा गांधी ने की थी, इसी संघ की महिला शाखा से इलाबेन जुड़ी थीं। श्रमिक संघ से जुड़ कर जब वे कामगारों के बीच काम कर रही थीं तब उन्होंने देखा कि महिला कामगारों की स्थिति काफी ख़राब है। ख़ासतौर से वे महिला कामगार जो असंगठित क्षेत्र से जुड़ी हैं, स्वरोजगार करती हैं, खेती मजदूरी करती हैं, होम बेस्ड वर्कर हैं। उनके सामने अवसरों की कमी है, कमाई नहीं है, निवेश के लिए पैसे नहीं हैं, पैसे और प्रशिक्षण जैसे संसाधनों तक उनकी पहुंच नही है गरीबी में जी रही हैं और अपनी जीविका को बनाए रखने के लिए उन्हें भेदभाव, शोषण जैसी चुनौतियों का भी सामना करना पड़ रहा है।. 'सेवा' एक तरह से महिला कामगारों की इन स्थितियों के विरोध में एक ऐसा जवाब था जो इलाबेन ने दिया था... इलाबेन ने महसूस किया कि महिला कामगारों का तबका सबसे उपेक्षित तबका है.... इन महिला कामगारों को सहयोग की और संसाधनों की ज़रूरत है, तभी वे अपनी जीविका को बनाए रख सकेंगी, और अपने काम की स्थिति को बेहतर कर सकेंगी। इलाबेन पेशे से वकील थीं और गांधी के दर्शन-अहिंसा, सत्याग्रह और स्वरोजगार से प्रेरित थीं। उन्होंने गांधी दर्शन के इन्हीं तीन सूत्रों को आधार बना कर एक यूनियन और संगठन के तौर पर 1972 में 'सेवा' की शुरूआत की। ' स्मिता ने महिलाओं के चेहरे की तरफ देखा। सबका ध्यान उसकी बातों की तरफ था और चेहरे पर कई सवाल उभरे हुए थे।

'इसका मतलब दीदी हम महिला कामगारों की स्थिति को उन्होंने सचमुच में बहत करीब से महसूस किया होगा।... हम महिला कामगार इन समस्याओं को रोज झेलते हैं। खुद उसका हिस्सा न होने के बाद भी इसे महसूस करना... बड़ी बात है!... कविता ने गहरा सांस लेते हुए कहा।

'दीदी आगे बताओं ना! ये आंदालन कैसे बढ़ा? और जो आप बैंक वाली बात बोल रहे थे, उसके बारे में भी बताओ...।' लक्ष्मी ने कविता की बात ख़त्म होते ही तुरंत बोल दिया।

'सेवा' भारत का पहला यूनियन है, जिसने असंगठित क्षेत्र और स्व-रोजगार से जुड़ी महिलाओं जैसे रेहड़ी पटरी विक्रेता महिलाओं को संगठित किया।.... और संगठित करने का मकसद क्या होता है?... स्मिता ने महिलाओं की तरफ मुस्कुरा कर देखते हुए पूछा।

'संगठित होने का मकसद यही होता है कि...हम सभी कामगार महिलाएं एकजुट हो कर अपने अधिकारों के लिए आवाज़ उठायें।.... जैसे हम संगठित हैं.... सामूहिकता हमें ताकत देती हैं।' ज्योति ने कहा।

'बिल्कुल सही सेवा ने भी महिलाओं को संगठित किया कि वे अपने कामगार अधिकारों के लिए आवाज़ उठायें,.... उनके मुद्दों को आवाज़ मिले... उनके काम और कमाई को सुरक्षा मिल सके।... साथ ही उन्होंने महिला लीडर्स

को ज़मीनी, राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ावा दिया। सेवा सदस्य आधारित यूनियन है, इसके 15 लाख से भी अधिक सदस्य हैं। सेवा की ख़ास गतिविधियों में-कामगार महिलाओं के यूनियन बनाना, कामगारों के साथ प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाना ताकी उन तक सभी जरूरी जानकारियां पहुंच सकें, पूंजी सहित दूसरे संसाधनों तक उनकी पहुंच बनाना ताकी वे अपने व्यवसाय को और बेहतर बना सकें, उन नीतियों के लिए सरकार के साथ पैरोकारी करना जिनसे इन कामगार महिलाओं व उनके परिवार को सहयोग मिल सके। इलाबेन 'सेवा' के माध्यम से खुद भी अपने स्तर पर इन महिला कामगारों के अधिकारों के लिए पैरोकारी करने लगीं।.... सेवा कामगार अधिकारों से जुड़े बहुत सारे मुद्दों पर काम करती हैं जैसे - कामगारों के लिए सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक सुरक्षा तक इन कामगारों की पहुंच, महिला कामगारों के लिए बेहतर कानून व्यवस्था के लिए पैरोकारी करना, औपचारिक शिक्षा और और व्यवसायिक प्रशिक्षण के माध्यम से उनके कौशल को बढ़ाना.... और भी बहुत कुछ।' स्मिता ने थोड़ा रुक कर सांस लिया।

'दीदी! मैंने यह भी सुना है कि 'सेवा' के काम का नेटवर्क काफी दूर तक फैला हुआ है, और हमारे अधिकारों की रक्षा के लिए जो कानून बने हैं, उनमें भी इलाबेन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है?' लक्ष्मी ने कहा।'

'अरे वाह लक्ष्मी! तुम्हें तो कामगारों से जुड़े आंदोलनों के बारे में काफी जानकारी है.... ये तो अच्छी बात है।'

'हां! दी मैंने, अपनी पत्रिका 'हम सबला' पढ़ी थी, उसमें आंदोलनों के बारे में जानकारी थी।' लक्ष्मी ने कहा।

'बहुत बढ़ियां...आज के समय में 'सेवा' का नेटवर्क भारत के 18 राज्यों दक्षिण एशिया के अन्य देशों जैसे दक्षिण अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में फैला हुआ है।...... सेवा कई नए संस्थानों और पहलों का नेतृत्व कर रही है, जो भारत में गांव के स्तर पर विकास के लिए नीतियों को विकसित करने में और उनको लागू करने में भागीदारी कर रहे है।..... ऐसे ही 1996 में, इलाबेन की कोशिश से अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने होम बेस्ड कामगारों को जिन्हें घर खाता कामगार भी कहते हैं, उनकी कामगार के तौर पर पहचान को मान्यता दी। 2004 की 'शहरी सड़क विक्रेताओं के लिए राष्ट्रीय नीति' और 2008 में अपनाए गए 'असंगठित श्रमिक सामाजिक सुरक्षा अधिनियम' जैसी सरकारी नीतियों के लिए उन्होंने लगातार पैरोकारी की थी। 2014 में स्ट्रीट वेंडर्स एक्ट पारित हुआ जो रेहड़ी-पटरी विक्रेताओं के अधिकार को पहचान देता हैं,...... ये महत्त्वपूर्ण जीतें, सेवा और इलाबेन के लंबे और लगातार चलने वाले संघर्ष का परिणाम था, जिसने असंगठित क्षेत्र की महिला कामगारों के काम, उनकी पहचान को आवाज़ दी। सेवा ने स्ट्रीट-नेट और होम-नेट, स्ट्रीट के लिए दो अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्क भी स्थापित किए हैं- सड़क-आधारित और घर-आधारित श्रमिक संगठन।

'दीदी अभी भी आपने 'सेवा बैंक' के बारे में नहीं बताया!' उर्मिला ने कहा।

'ओह हां! असल में महिला कामगारों के लिए इलाबेन के काम की इतनी लंबी फेहरिस्त है कि... मुझे समझ नहीं आ रहा कि क्या बताऊं और क्या छोडूं।... तो... जैसा मैने शुरू में आपको बताया था कि इलाबेन ने महसूस किया कि हमारी रेहड़ी पटरी वाली महिला विक्रेताओं को और दूसरी कामगार महिलाओं की पूंजी व दूसरे संसाधनों तक पहुंच नहीं है... और ये पहुंच बनाना बहुत ज़रूरी है.... सेवा बैंक की स्थापना इन महिला कामगारों की ज़रूरतों

को ध्यान में रखते हुए की गई थी। महिलाओं को अपने रोजमर्रा के खर्चों को चलाने और उपकरण खरीदने के लिए पूंजी की ज़रूरत होती है। और जब उन्हें कर्ज़ कहीं से मिलता भी है तो उसका ब्याज दर इतना ज़्यादा होता था कि.... ज़िंदगी भर चुकाने वाली स्थिति बन जाती थी। महिलाओं को बैंकिंग से जुड़ी कई समस्याएं थीं। जैसे कि बैंक का माहौल, बैंक में जाने में मुश्किल, और बचत की कम रकम। यह देखते हुए इलाबेन ने सेवा के जरिए महिलाओं के खुद का बैंक शुरू करने का फैसला किया, जिसमें उनकी ज़रूरतों के हिसाब से उत्पाद और सेवाएं होंगी।

सेवा बैंक जिसका नाम है' -'श्री महिला सेवा सहकारी बैंक!' यह बैंक सेवा यूनियन द्वारा मई 1974 में शुरू किया गया था। इस बैंक में महिलाएं अपने खाते में पैसे जमा करती हैं और बैंक उन पैसों का इस्तेमाल उधारकर्ताओं को कर्ज़ देने के लिए करता है। स्व-रोजगार वाले वे लोग हैं जो अपना छोटा-मोटा व्यवसाय करके या अपनी मेहनत बेचकर जीविका कमाते हैं। बैंक की जब शुरूआत हुई तो एक तरह से इस सुविधा को चालू करने के लिए 4,000 स्वरोजगार वाली महिलाओं ने 10/- रुपये की शेयर पूंजी का योगदान दिया।..... आप देखो कैसे. .. इलाबेन की सोच और कामगार महिलाओं की भागीदारी ने इस सपने को साकार किया.... मई 1974 में, सेवा बैंक को भारतीय रिज़र्व बैंक और राज्य सरकार के दोहरे नियंत्रण के तहत एक सहकारी बैंक के रूप में पंजीकृत किया गया था।..... तब से यह गरीब, अशिक्षित स्वरोजगार वाली महिलाओं को बैंकिंग सेवाएं दे रहा है।

सेवा-बैंक को अपने विकास के दौरान कई चुनौतियों का सामना भी करना पड़ा था। अपने शुरुआती महीनों में.. ... न केवल सरकार ने इसकी वैधता को स्वीकार करने से इंकार कर दिया था... बल्कि इसके मूल संगठन ने भी इसे समर्थन देने से इंकार कर दिया था। इन सभी बाधाओं के बावजूद, सेवा-बैंक ने असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली महिलाओं को समर्थन देने के अपने लक्ष्य को कभी नहीं छोड़ा।.... आज यह भारत की लाखों कामकाजी महिलाओं को अपनी सेवा दे रहा है। सेवा बैंक ने दुनिया भर में माइक्रो-फ़ाइनेंस आंदोलन को जन्म दिया। यह इस सच का प्रमाण बन गया कि ग़रीब महिलाएं वास्तव में 'बैंक योग्य' हैं और वे अपना खुद का बैंक भी बना सकती हैं।''

'सही कहा दीदी हम कामगारों के अधिकारों के संघर्ष में इलाबेन का योगदान बहुत बड़ा है,..... हम उन्हें सलाम करते हैं! लक्ष्मी ने सिर झुका कर कहा, बाकि महिलाओं ने भी सिर झुका लिया।

बात करते हुए अचानक स्मिता की नज़र घड़ी की तरफ गई, पांच तो कब के बज चुके थे... पर आश्चर्य किसी महिला ने समय को लेकर उन्हें टोका नहीं था... बल्कि अभी भी उनके पास बहुत सारे सवाल थे। पर स्मिता को अब मीटिंग ख़त्म करना ही उचित लगा, क्योंकि महिलाओं को अपने काम पर लौटना है। स्मिता ने कहा कि आज की मीटिंग को समेटने का समय आ गया है। क्या किसी का कोई सवाल है या कोई टिप्पणी करना चाहता है, तो कर सकते हैं। रोज़ी ने स्मिता दीदी की तरफ़ देख कर धन्यवाद किया और कहा कि आने वाली मीटिंग में और ऐसी महिला कामगारों से जुड़ी पहल और आंदोलनों के बारे में हमें बताना और प्रेरित करना।

घाघरा पलटन

नोरती बाई से एक छोटी मुलाकात

जयपुर से लगभग 98 किलोमीटर की दूरी पर 'तिलोनिया' गांव में 'बेयर फुट कॉलेज' है। 'बेयरफुट कॉलेज' उन लोगों को जो किन्हीं वज़हों से शिक्षा हासिल नहीं कर पाए हैं, या कम पढ़-लिख पाए हैं, फिर से शिक्षा से जोड़ने का काम करता है। नोरती बाई से मुलाकात के लिए यही जगह निर्धारित की गई थी। हल्की बारिश हो रही थी तो हमें जयपुर से वहां पहुंचने में लगभग दो से ढाई घंटे लग गए। नोरती बाई के बारे में बहुत कुछ अख़बारों और मीडिया में पढ़ा-सुना था, पर मिलने का कभी मौका नहीं मिला था। रास्ते भर ज़ेहन में यह शख़्सियत छाई रही। एक साधारण सी ख़ास औरत, जो निम्न मध्यमवर्गीय दलित परिवार से आती है- हर विपरीत स्थिति के खिलाफ़ खड़ी हुई, असंगठित कामगारों के अधिकारों के लिए आवाज़ उठाई, नरेगा और अकाल राहत के काम में

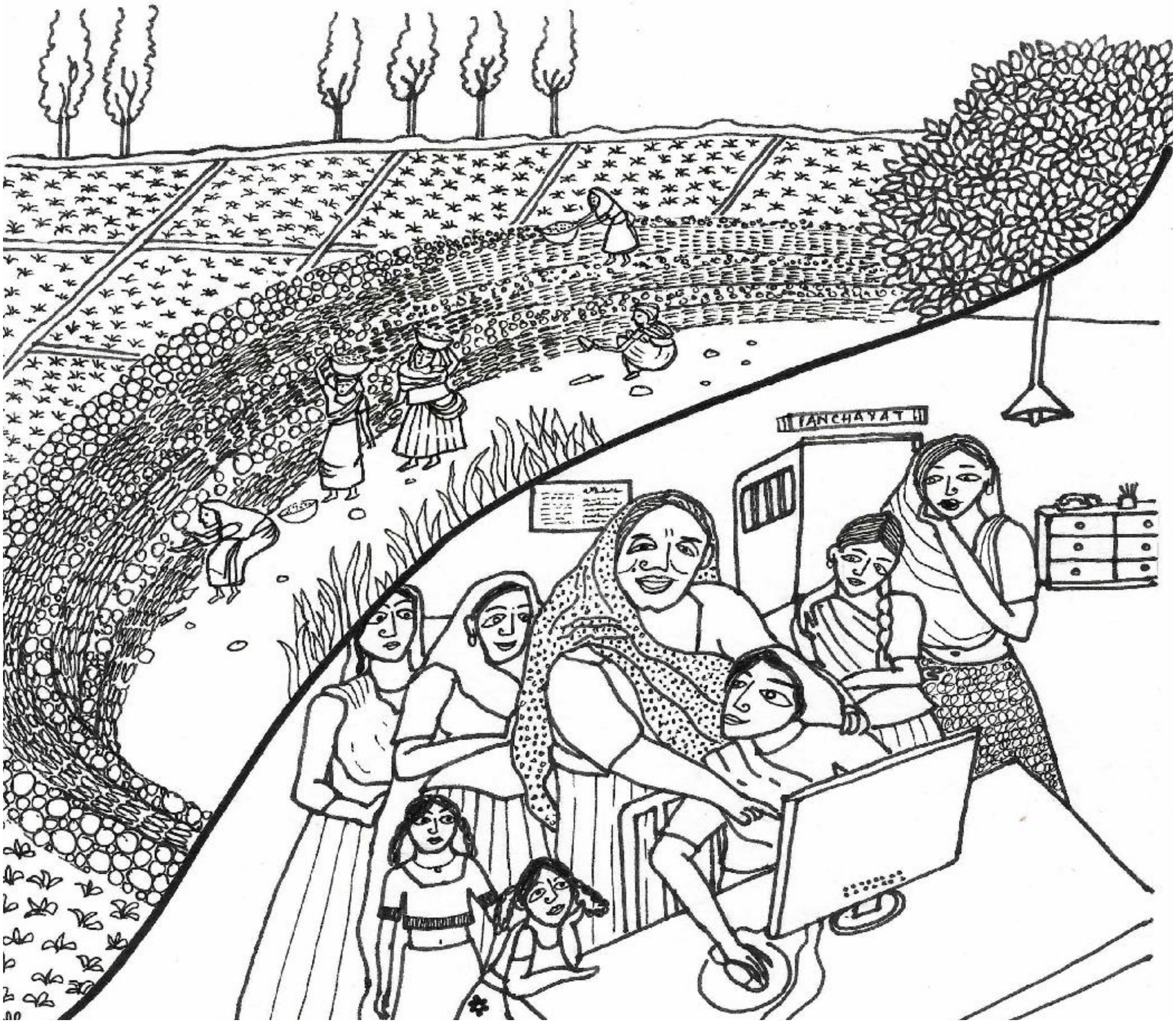

महिलाओं को मिलने वाली असमान मजदूरी के खिलाफ़ संघर्ष किया, सरपंच बनी, गांव में अस्पताल बनवाने के लिए भू-माफ़िया के साथ संघर्ष किया, अक्षर ज्ञान हासिल कर कंप्यूटर में महारथ हासिल की। सच कहें तो नोरती बाई से मिलने का उत्साह इतना ज़्यादा था कि जयपुर से तिलोनिया की दूरी का पता ही नहीं चला। कॉलेज के हरे-भरे परिसर में अच्छी चहल-पहल थी। शायद कोई प्रवेश परीक्षा या ओरिएंटेशन चल रहा था। वातावरण में हल्की ठंडक थी।

नोरती बाई तय समय से पहले ही वहां मौजूद थी। लंबा-चौड़ा फुर्तीला शरीर, उनकी उम्र का पता नहीं लगने दे रहा था, उम्र लगभग 60 या 65 की रही होगी। धानी रंग का घाघरा सफेद कुर्ती और लाल कलर की चुन्नी ले रखी थी। एक औपचारिक परिचय के साथ हमारी बातचीत का सिलसिला शुरू हुआ। हमारे इस सवाल पर कि क्या आप हिंदी में बात कर लेंगी? क्योंकि राजस्थानी भाषा में हमारा ही हाथ कुछ तंग था, नोरती बाई ने पूरे आत्मविश्वास के साथ कहा 'बिल्कुल'। नोरती बाई ने केवल पांचवीं तक पढ़ाई की है, आगे पढ़ाई न करने की वजह पूछने पर तपाक से कहा 'मैंने पढ़ाई तो पिता के घर में भी नहीं की और न ससुराल में। हम तीन बेहड़े ही (बहनें) थे, कोई भाई नहीं था। कोई मना नहीं किया, पर..... तब पढ़ाई नहीं किया।' वो दौर हम समझ सकते हैं, लड़कियों की शिक्षा को उतना महत्व नहीं दिया जाता होगा। समुदाय में किसी ने अगर मना नहीं किया तो किसी ने जोर भी नहीं डाला होगा। उन्होंने अपनी बातचीत को जारी रखते हुए कहा-

'मेरी शादी 13 साल में हो गई थी। बाइस साल की उम्र में गौना हुआ। सुसर के एक ही लड़का था। हमारा परिवार बोत छोटा है, सुसरा, सास, दो लड़की और एक लड़का। पति भी आठ आना कम पचास पैसा। घर में कौन आता-जाता, खाली, सुनसान घर। लड़कियां तो शादी करके चली गईं। मेरे आने के बाद घर में अच्छा चहल-पहल हो गया। मेरे पति शरीर से तो कमजोर थे ही, दिमाग से भी बहुत तेज नहीं थे। मेरे सास-ससुर छुप छुप के रोते थे कि यह घर टूट जाएगा। बहु नहीं रहेगी शरीर से इतनी तगड़ी है, और बेटा इतना कमजोर, ये रिश्ता नहीं चल पाएगा। मेरा सुसरा चार भाई था, चार भाई के औलाद उल्टी-सीधी बातें मुझसे करते थे। मैं एक साल छह महीना ऐसी बातें सुनती रई, फिर बाद में मेरा मन में ऐसा आया, ऐसे पार होईये चाहे ऐसे पार होईयों, बहोत हुओ, अब सबसे पहले घर में लड़ाई चालू किया। मेरा सुसरा दरवाजे पर सो जाता था कि कहीं बाहर न जा सकूं। कहता इसका इससे संबंध, उससे संबध।'

नोरती ने सबसे पहले अपने ससुराल में अपनी जगह बनाने के लिए संघर्ष किया। जब वह दबने की जगह आवाज़ उठाने लगी तो उसके चरित्र पर कई तरह के सवाल खड़े किए जाने लगे। लेकिन इन झूठे आरोपों पर उनका जवाब था-'ये मत सोचना कि ये दबी हुई औरत है, गलत बोलोगे तो मुंह तोड़ दूंगी। तो वो लोग भी डर गए कि ये कुछ भी कर सकती है... फिर ऐसे ही समय बीतता गया, बच्चे हो गए। हमारे राजस्थान में कुआं पर पानी लेने जाना होता है, मेरी सासू डरती थी, किसी दूसरे आदमी के साथ भाग न जाए। मैं कहती थी कि मेरको बंदी करके मत रखो, मैं खुल्ली रहूंगी, खुल्ली खाऊंगी, अब मेरे पति से काम नहीं होगा, तो मैं अकेले सबका पेट भरने का ज़िम्मा लेती हूं। मैं रात के समय में भी जा सकती थी। मैं अकेले आवाजाही कर लेती थी, मैं कहीं भी अकेले आ जा सकती थी।'

नोरती के व्यक्तित्व में गलत के खिलाफ़ विद्रोह का स्वभाव साफ़ दिख रहा था। उनके व्यक्तित्व का यह विद्रोहीपन बचपन से ही था। नोरती बाई दलित समाज से आती हैं। नोरती बाई बहनों में दूसरे नंबर पर थीं। पिताजी का पट्टियों का कारखाना था। चार-पांच बैलगाड़ियां चलती थीं। जब पैसा अच्छा कमा लिया तो उन्होंने राजपूतों की ज़मीन खरीद ली और वहां कुआं खुदवाने का काम करने लगे। गांव के छह परिवार मिल कर वहां कुआं खोदने का काम करने लगे।

'मेरे चाचा-ताऊ के लड़कों ने पिताजी को कहा कि आप कारखाने का काम छोड़ दो, और कुआं खोदने के काम में लग जाओ। लेकिन पिताजी ने कहा कि कारखाने में अच्छा पैसा हो रहा है, ग्राहक भी बन गए हैं तो उस काम को छोड़ना ठीक नहीं होगा। मैंने अपने रिश्तेदारों को कहा कि पिताजी को परेशान मत करो। तुम्हें जो काम करवाना है, मुझसे बोलो। तो वे कहने लगे कि क्या तू खोदने का काम करेगी.... कुएं में उतरेगी...... बैल चलाने का काम कर सकती? मैं बोली-क्यों नहीं करूंगी! मैंने सबको पीछे कर दिया.... पांच छह लोगों का काम खुद किया।' एक समय ऐसा आया जब नोरती बाई को घर-परिवार से निकल कर रोज़ी रोटी कमाने के लिए खेतों की मेढ़ बनाने का काम करना पड़ा।

'1981 में अकाल पड़ा था। हरमाड़ा गांव में पांच गांवों के लोग मजदूरी का काम करते थे। हमारे समाज में लेदर का काम करते थे। हमारे इस काम को छुड़ा दिया गया। सरकार ने कहा कि अब लेदर का काम, जूतियों में टांका लगाने का काम नहीं कर सकते हो। हमारे समाज का ये काम छूट गया। अकाल राहत के काम आये। हम जाटों के खेतों में बंदा (मेढ़) लगाने के लिए, गेंची, फावड़ा से मिट्टी डाल-डाल के पाल लगाने का काम करते थे। वहां पर गारमेंट का 7 रुपया रेट था। महिलाओं को लेकिन उसी काम का केवल 3 या 4 रुपया मिलता था। हम महिलाओं से जहां मिट्टी 50 फुट या 60 फुट डालना होता था, वहां भी जबरदस्ती 150 फुट मिट्टी डलवाते थे। पुरुष लोग आराम से बैठ कर ताश खेलते, बीड़ी पीते थे, पर उनको पूरा पैसा मिलता। महिलाएं कुछ नहीं बोलती थीं। फिर मैंने वहां महिलाओं का ग्रुप बनाया। हम पचास महिलाएं थीं। रात को हमारी मीटिंग होती थी। फिर अरुणा जी ने पूछा कि तुम महिलाएं अपनी परेशानी बताओ। तो महिलाओं ने कहा कि हम महिलाओं को कम और पुरुषों को ज़्यादा क्यों मिलता है? इतने कम पैसे में बच्चों का पालन-पोषण भी नहीं हो पाता है। अकाल का समय था, पेट भरना मुश्किल हो रहा था। हमारे मोहल्ले में परिवार की 40 लड़कियों का डेथ हो गया। बीमारी में दवा करने के लिए पैसा नहीं होता था। ऐसा वक्त था।..... फिर बाद में अरुणा जी, ओमना जी, कानजी बामल, गोपी जी मास्टर ये चार-पांच लोगों ने सारी बात सुनी। महिलाओं की परेशानी भी सुनी। फिर तीन-चार दिन बाद उन्होंने सबको बुलाया। महिलाएं ज़्यादा गईं, 300 या 400 के करीब, पुरुष कम थे। बाद में पुरुष और कम हो गये। हमने उनको बोला कि हम अपना पैसा नहीं लेंगे, हमें कम पैसा क्यों दिया जा रहा है।..... फिर बाद में बरसात का मौसम आ गया। खेती-बिजाई का काम भी आ रहा था। अरुणा जी और संस्था के कार्यकर्ताओं ने लेदर का काम शुरू करवाया।....... मेरा दो-तीन हफ़्ते के काम का पैसा बकाया रह गया, बोले कि पैसा नहीं आया है सरकार से।..... बहुत सारी महिलाओं का बकाया था। जब पेमेंट आया तो आवाज़ लगा कर बोलने लगे पेमेंट ले लो, पैसा आ गया है। पर महिलाएं भागने लगीं कि हम पैसा नहीं लेंगे। उन्होंने साफ़-साफ़ कह दिया कि पैसे लेने जायेंगी ही नहीं। पुरुषों को सात रुपया दे रहे हो और हम महिलाओं को तीन-तीन रुपया, हम नहीं लेंगे। बीस-तीस महिलाओं ने जहां से पैसा मिलता था वहां जा कर आवाज़ लगा कर आ गईं कि 'हम नहीं लेंगे

तीन रुपया, हमें बराबर का पैसा दो'। हमें तो यह भी पता नहीं था कि हमारा कितना पैसा आता है, पर इतना पता था कि पुरुषों से कम तो नहीं आता होगा। महिलाएं रात-रात को बाल-बच्चा और पति को छोड़ कर धरना देने के लिए बैठने लगीं। पति बोलता या रात को निकलने के लिए मना करता तो हम महिलाएं बोलते कि आप को तो सब मिला हुआ है.... आपका तो पेट भर रहा है.... हम महिलाएं रात को खाली पेट सोते हैं। पूरा गांव में दंगा-फसाद जैसा हो गया। फिर एक रात को हमारे समाज की बीस-पच्चीस महिलाओं को बुला कर शराब पिला दिया कि तुम लोग ये हल्ला बंद कर दो.... पर नहीं माने। पुलिस ने लाठी चलाया। हमको पीटा पर हम सब अपनी मांग पर अड़े रहे। हमको तो अपना अधिकार चाहिए। फिर महिलाएं रात को ही अपने घर-परिवार छोड़ कर तिलोनिया आ गईं कि हम तो न्याय लेंगे। अरुणा जी ने हमारी बात सुनी और बोला कि आप लोग को हम घर छुड़वा देते हैं, सुबह इस पर बात करेंगे कि आगे क्या करना है। अगले दिन उन्होंने सारा रिकॉर्ड देखा, हमारे नज़र में ये भी आया कि एक लड़का जिसने केवल सात दिन ही काम किया था, उसको पंद्रह दिन का पैसा मिल रहा था। भागीरथ नाम था उसका। ऐसे कई मामले थे। फिर मेरे नाम से रिट फाइल करने का प्लान हुआ। लेकिन मेरे लिये कोर्ट-कचहरी का चक्कर लगाना मुश्किल था। घर में तीन-चार छोटे बच्चे, बूढ़ी सास और पति भी कमज़ोर, किसी तरह की ज़िम्मेदारी उठाने लायक नहीं था। फिर बंकर जी ने अपने नाम से रिट् फाइल (याचिका दायर) किया। फिर 81-82 में केस जीतने के बाद बकाया पैसा आया।' सर्वोच्च न्यायालय का एक ऐतिहासिक फैसला आया, जिसमें कहा गया कि कोई भी कामगार, जिसमें अकाल राहत कामगार भी शामिल है, उन्हें न्यूनतम मजदूरी से कम नहीं दिया जा सकता है, और अगर ऐसा किया जाएगा तो उन्हें उसे जबरदस्ती करवाया गया श्रम माना जाएगा।

'केस जीतने के बाद मैं तिलोनिया आ गई। यहां मैंने छह महीने की लिट्रेसी ट्रेनिंग ली। मुझे लगने लगा था कि अगर पढ़ी-लिखी होती तो ये नौबत नहीं आती। बिना जाने कितनी भी रकम के आगे अंगूठा तो नहीं लगा देती। दूसरी महिलाओं की तरह मैं भी इसके लिए ज़िम्मेदार थी।..... फिर संस्था ने मुझे तीन गांव की महिलाओं का समूह बनाने की ज़िम्मेदारी दी।..... छह गांव और फिर बाइस गांव की महिलाओं के समूह बनाये। ये महिलाएं समान मजदूरी के लिए संघर्ष कर रही थीं।.... मनरेगा में केवल मेट (मनरेगा मेट मुख्य रूप से जॉब कार्ड धारक को काम पर लगाकर उसे काम के अनुसार मजदूरी दिलाने का प्रयास करता है) पुरुष होते थे, महिलाएं नहीं होती थीं.... महिलाओं के काम की निगरानी भी पुरुष करते थे.... महिलाएं खुलकर उनसे अपनी समस्याएं भी नहीं बता पाती थीं...... तो हमने बकायदा आंदोलन करके सरकार से मांग की कि महिला मेट हों, सरकार उसकी ट्रेनिंग उनको दे। (वर्तमान मनरेगा के तहत महिला मेटों को अब नियुक्त किया जाता है। उनका काम ग्राम पंचायतों में चलने वाले मनरेगा कार्यक्रम के तहत काम करने वाले मजदूरों की निगरानी करना, काम का लिखित रिकॉर्ड रखना, मजदूरों की हाज़िरी लगाना, मजदूरों को काम के दौरान किसी तरह की स्वास्थ्य समस्या आती है तो उनका इलाज कराना होता है।)..... सरकार महिला ग्रुप को काम नहीं देती थी तो जाकर धरना लगा देते थे और काम ले कर आते थे। ये देख-देख कर सभी गांव में धीरे-धीरे महिलाओं के समूह बनने लगे। बैठक में महिलाएं आती थीं तो कहती थीं कि हमारे ससुराल में महिला ग्रुप नहीं है.... हमारे पीहर में नहीं हैं.... और फिर वहां जाकर महिला ग्रुप बनता था।.... इस तरह 108 गांव में महिला ग्रुप बना।.... उस दौरान बारह-तेरह साल की लड़की के साथ जाट लड़के ने बलात्कार किया।.... जुलूस निकाल कर हमने उसकी सज़ा करवाई।..... इसी तरह अजमेर के

पास के गांव में लड़की को दहेज के लिए जला दिया था..... उसमें भी दोषी को सज़ा दिलाने के लिए डेली धरना दिया, प्रदर्शन किया और दोषी को सज़ा मिली। इस तरह के महिलाओं के मामलों में भी हम आवाज़ उठाते थे, और सभी 108 गांव की महिलाएं चाहे वे किसी जाति की होती थीं, उसमें शामिल होती थीं। हमारे सात-आठ केन्द्र हैं.... तो हर एक केन्द्र में दस-बारह गांव होते हैं.... तो केन्द्र के माध्यम से कार्यकर्ता महिलाओं से जुड़ते थे.... उन तक बात पहुंचाते थे..... महिलाओं को जब पता लगता था वे जुट जाती थीं।'

'मीटिंग चलाना आपने कैसे सीखा?' इस सवाल पर नोरती बाई ने कहा-

'हमने छह महीने की ट्रेनिंग लिया था ना! वहां से सीखी। ट्रेनिंग में बाराखड़ी सीखी, गिनती सीखी, गुणा भाग सीखा। एक डायरी दिया कि रोज जिस तरह की परेशानी आती है उसको डायरी में लिखो। टूटी-फूटी भाषा में वो लिखती थी। तो इस तरह से आगे बढ़ी। फिर मीटिंग होती थी, उस पर रिपोर्ट होती थी.... तो उससे समझ में आता था कि कैसे चलाना है मीटिंग। ऐसे ही मीटिंग में समस्या आई कि पीगून गांव में एक बड़े किसान ने पानी को रोक दिया। गांव में नहर, तालाब का पानी रोक दिया। खुद का आव बना के खुद के नाड़े वहां पर डाल दिए, गवचराह (चराहगाह) होता है, खुद का आव बना कर सारा पानी खुद ही ले लिया। चराहगाह के लिए भी पानी नहीं बचा। दो साल तक जानवर प्यासे रहे। फिर पीगून गांव से महिलाएं आईं, उन्होंने कहा कि हमारे तालाब बनवाओ हमारे आव बनवाओ, जानवर पानी के बिना मर जायेंगे।..... हमने कहा कि आप लोग अपना महिला ग्रुप बनाओ। तीन गांव की महिलाओं ने महिला ग्रुप बनाया। सारे गांव की सलाह ली । फिर हम लगभग दस हज़ार महिलाएं मौजमाबाद तहसील के दफ़्तर गए। तीस-चालीस ट्रेक्टर में भर कर महिलाएं गईं। छह साल भर की रिपोर्ट निकलवाई, कुछ नहीं मिला। फिर तहसील के बाहर धरना दे कर बैठ गए। एस.डी.एम. के ऑफ़िस के बाहर बैठ गए। चपरासी गेट बंद करने की कोशिश करें, फिर अपने साहब को फोन पर फोन करें कि ये महिला गेट नहीं बंद करने दे रही हैं, दंगा-बाजी कर रही हैं, कागज़ जला देंगी।.... हम बोले कि हम कुछ नहीं करेंगे.... हम साहब से बात करेंगे..... और कुछ नहीं करेंगे। रात के बारह बज गये, फिर आये वह और आते ही चिल्लाने लगे कि..... आप क्या करते हो.... आप क्या जानते हो..... घाघरा पलटन लागे हो..!

उनके ये बोलते ही एक महिला खड़ी हो कर बोली.... इसी घाघरा पलटन की पेट से आप पैदा हुए हो.... उसी ने आपको पाला पोसा.... शिक्षा दिलाई.... आज अफ़सर हो गए हो तो.... हमें घाघरा पलटन कह रहे हो.... शरम नहीं आती आपको!.... हमारी बात सुनो! फिर उन्होंने हमसे माफ़ी मांगी। रात को सबको खाना मंगवा कर खिलवाया।..... ये सब करते-करते सुबह के तीन-चार बज गए।.... उन्होंने रात में ही करीब तीन हज़ार पुलिस बुलाई। हमसे बोला कि आप लोग जगह पर पहुंचो, हम आते हैं। हमने कहा नहीं, आप आगे चलो, आपके पीछे-पीछे हम चलेंगे। आप हमें आगे भेज दोगे, पीछे से नहीं आओगे।.... तो फिर हमसे आगे वो चले, पुलिस तो पहले ही भेज दिया था। हमसे पूछा कि कहां-कहां तक है बताओ.... हम बोले रिकॉर्ड देख लो कहां-कहां तक है.... फिर उन्होंने रिकॉर्ड देखा। फिर रिकॉर्ड के हिसाब से पत्थर का आव बना दिया। मशीनें बुलाकर जो किसान ने आव बना रखे थे, उसे तुड़वाया। दस-दस गाड़ी में चारा का बड़ा-बड़ा बोरा भेजा।..... कभी पानी की हमको दिक़्क़त आती तो मटका फोड़ देते..... फिर हैंडपंप लगाए गये.... तो महिलाओं को हैंडपंप की ट्रेनिंग दी। तो

कभी पानी का आंदोलन, कभी बलात्कार का आंदोलन.... कभी चरागाह का आंदोलन.... कभी पेड़ काटने के विरोध में आंदोलन.... कभी खेती को लेकर आंदोलन, तो इस तरह से आंदोलन चलता रहा।.... फिर रूपकंवर के सती होने के खिलाफ़ देवराला का आंदोलन.... मैंने उस पर भाषण दिया तो राजपूत घर पहुंच गए कि तेरी लुगाई तो राजपूतों के ख़िलाफ बोल रही है।.... पति मार-पिटाई करने लगा.... मैंने लकड़ी पकड़ ली, बोला क्यों मार रहे हो.... वो बोले कि तुम राजपूत के खिलाफ़ बोल रही हो.... मैंने कहा कि मैं पुलिस के ख़िलाफ बोल रही हूं। भले बेटी राजपूतानी थी...पर किसी की तो थी। मैं सरकार से यही सवाल पूछी कि चालीस साल हो गया कानून बने.... ये घटना हो गई, बच्ची की जान चली गई.... प्रशासन ने इसको रोकने के लिए क्या किया?.... मैं इसके लिए सबसे दोषी पुलिस को मानती हूं। उनकी नज़र में गरीब की लड़की की कोई पूछ ही नहीं है।..... फिर भंवरी भठेरनी का बलात्कार हो गया, साथिनी (जिस घटना के बाद काम की जगह महिला कामगारों के लिए सुरक्षित बने, इसके लिए बड़ा आंदोलन शुरू हुआ। और फिर सर्वोच्च न्यायालय का विशाखा जजमेंट और बाद में कार्यस्थल पर महिलाओं का यौन उत्पीड़न रोकथाम, निषेध, निवारण कानून 2013 अस्तित्व में आया।) मैं भी साथिन थी पांच साल तक।...... कलेक्टर ने आदेश निकाला कि आपको गांव में बाल विवाह रोकना है। उसने सरकार को लिख कर दिया कि हमारे गांव में पांच बाल विवाह हो रहे हैं। ब्याह तो फिर भी हो गए, पर इससे नाराज़ होकर, बरसात के समय में खेत में उसके साथ चार-पांच गुर्जर लोगों ने बलात्कार किया।..... मैं भठेरी गांव में भी गई.... वहां भी रैली-धरना हुआ।..... तो जहां भी अन्याय होता था, मैं जाती थी।'

'आप ये सब कर रही थीं, आप साथिन भी थीं.... फिर आप पंचायत में कब गईं?' इस सवाल पर नोरती बाई कुछ सेकेंड रुकीं, फिर बोलीं-'पंचायत में तो घणा बाद में गई। 81 से पहले करीब-करीब बीस-पच्चीस साल तक मैं संस्था में काम करी।.... बस बीमार होने के कारण फिर मैं फ़ील्ड में नहीं जा पा रही थी। फ़ील्ड में नहीं जा पा रही थी, तो तीस-पैंतीस साल की उम्र में मैंने कंप्यूटर चलाना सीखा, कंप्यूटर चलाना सीखने में तो.... जान ही निकली.... माउस दबाओ तो गपड़-सपड़ हो जाता था।.... की बोर्ड में तो बहुत परेशानी हो जाती थी। अंग्रेज़ी के ए, बी, सी, डी नहीं आती थी.... तो मैं रोज़ घर से यहां पांच किलोमीटर चल कर आती और जाती थी। तो रास्ते में.... ए.. बी... सी... डी, ऐसे करके.... अक्षर रास्ते भर रटते हुए जाती थी। तो 26 अक्षर रटने में एक महीना लग गया। फिर अक्षर को पहचानना सीखा.... कैसे बंद करते हैं, कैसे चलाते हैं.... माउस को सीखने में टैम लगा.... कहीं-कहीं भाग जाता था...... पकड़ में नहीं आता था। (हाथ के इशारे से बताती हैं कि किस तरह से माउस का कर्सर भागता था, देखने में ऐसा लग रहा था कि जैसे सचमुच में चूहा पकड़ने की कोशिश कर रही हों, साथ में हंसती भी जा रही थीं).... फिर ऐसे तीन महीना में टाइपिंग करना सीख गई।.... इस काम में माथा बहुत दुखयो.... पर बाद में फिर सरल लगने लगयो।' नोरती बाई ने न केवल खुद कंप्यूटर सीखा, बाद में गांव की 700 लड़कियों को कंप्यूटर सिखाया भी। जिस कार्यालय में हम बैठ कर बातचीत कर रहे थे, साथ बैठी महिला ने तुरंत कहा 'मुझे भी कंप्यूटर चलाना इन्होंने ही सिखाया है।'

'तू तो आठवीं तक पढ़ी है.... तुझे इतनी मुश्किल नहीं हुई होगी.....! नोरती बाई ने उससे तपाक से पूछा।

‘नहीं केवल पांचवी तक पढ़ी हूं!’ महिला ने जवाब दिया। नोरती बाई ने उसकी तरफ़ मुस्कुरा कर देखते हुए कहा-

‘मैं लड़कियों और लुगाइयों को कच्चा कागज में लिख कर सिखाती थी। हिंदी का अक्षर लिखा उसके ऊपर अंग्रेज़ी का अक्षर लिख दिया। छोटा करना, बड़ा करना, टेबल बनाना ये सब सिखाती।’ नोरती बाई ने 1987 में महिलाओं के लिए तीन साल नाइट स्कूल भी तक चलाया।

‘फिर पचांयत का चुनाव आया तो ग्यारह जाति के लोग आये और हाथ जोड़ कर बंकर साहब को बोले कि हम चाहते हैं कि सरपंच के चुनाव में एस. सी. की सीट पर नोरती बाई खड़ी हो। मैं बोली सरपंच तो बनाओ, पर घर में कुछ नहीं है,.... मैं बोलो तो बहुत हूं.... पर न घर, न बाहर मेरे पास कुछ है। बंकर साहब (संजित रॉय उर्फ़ ‘बंकर’ सामाजिक कार्यकर्ता, बेयरफ़ुट कॉलेज के संस्थापक) बोले-तुमको क्या चाहिए? कुछ भी पैसा खर्च करने नहीं देंगे.... चुनाव करो तो ऐसे करो। और सब लिख कर दो कि चुनाव में न तो गाड़ी से चुनाव का प्रचार होगा, न चाय-पानी बंटेगा और न ही दारू बंटेगा। अगर मंजूर है तभी नोरती बाई चुनाव लड़ेगी। तो सबने कहा ऐसा ही होगा, आपको लिख के लेना है तो लिख लो। फिर अरुणा जी (मजदूर किसान शक्ति संगठन) ने एक कागज में ये सब बात लिखी। सबने उस पर हस्ताक्षर किया, उसकी कई फ़ोटोकॉपी कराई गईं, और सबने रखी। मैं बेटे की मोटरसाइकिल में पेट्रोल भरा कर दूर-दूर के गांवों में अपना प्रचार करने जाती थी। लोगों से हाथ जोड़ कर बोलती कि नई पंचायत महिला की आ रही है, आप अपना वोट दो, महिलाओं और बच्चों के लिए काम करूंगी।.... पांच साल पंचायत का नवा डिज़ाइन दिखाऊंगी।’

2010 में नोरती बाई सरपंच का चुनाव लड़ीं और हरमदा की सरपंच बन गईं। नोरती बाई को महिलाओं का चाहे वे किसी भी जाति या वर्ग की थी, जबरदस्त समर्थन मिला था। यह सीट महिलाओं के लिए आरक्षित थी। लेकिन उनके विरोधी, जो कि पूर्व सरपंच और दारू का ठेका चलाते थे, उन्होंने अपने तीन महिला उम्मीदवार खड़े कर रखे थे। उन्होंने चुनाव में जम कर शराब और पैसा बांटा। यहां तक कि उनके समर्थकों ने नोरती की बहु पर डायन होने का भी आरोप लगाया। उन्हें बलात्कार की धमकी भी दी गई, लेकिन नोरती बाई पीछे नहीं हटीं।

‘सरपंच तो बन गई। फिर सेक्रेटरी साहब से मुलाकात हुई। उनको कहा-पंचायत का कंप्यूटर दिखाओ।.... वो बोले पंचायत का कंप्यूटर देख कर क्या करोगे... उसमें की बोर्ड है... माउस है..ऐसा क्या है उसमें?.... मैं बोली अच्छा चलो पंचायत में कितना जॉब कार्ड है यह दिखाओ। कहने लगा मैं देख लूंगा आप क्यों परेशान हो रहे हो.... मैं बोली पागल हो गया की...! पंचायत का काम मैं देख लूंगी.... मेरे को टोकने का ज़रूरत नहीं हैं। पंचायत का जो लैटर आता है मुझे दिखाना है.... अकेले निर्णय नहीं लेना है। ये मत सोच लेना कि घाघर लुगड़ी आई है!’ जब नोरती बाई सरपंच बनने के बाद पंचायत का कार्यभार संभाला तो देखा पंचायत का बचत घाटे में चल रहा था।

‘जब सरपंच बनी तो पता चला कि पंचायत तीन लाख के घाटे में चल रहा है। सेक्रेटरी से पूछा बताओ कितना बचत है कितना खर्च है। फिर उसने बताया कि इस सामान की ज़रूरत है... इस सामान की ज़रूरत है। सबको जोड़ कर फिर चार लाख बना। फिर उससे पूछा क्या क्या बिल है ये बताओ? फिर ये सब हिसाब किताब लेकर मैं पंचायत समिति गई कि ये बिल हैं बताओ कैसे चुकाऊं मैं...?

सबसे पहले सेवा केन्द्र बनवाना ज़रूरी है। मेरे सरपंच बनने के एक डेढ़ महीने बाद सेवा केन्द्र बनाने का लैटर आ गया। सरकार ने सभी पंचायत को सेवा केन्द्र बनाने के लिए दस लाख रुपये का बजट आ गया।.... सेक्रेटरी साहब को बोले अपना कोरम बैठाओ और बताओ कि सेवा केन्द्र बनाने के लिए दस लाख पैसा आया है.... कहां कौन सी जमीन पर सेवा केन्द्र बनाना है ये बताएं।.... बिना ठेके किसी को दिए मैंने सब जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।.... सारा सामान खुद मंगवाते, रजिस्टर पर लिखते, काम की सारी निगरानी खुद करते। बस ! कारीगरों को जितना सरकारी रेट है उससे थोड़ा ज्यादा दिया और बोला कि खूब मेहनत से अच्छा बनाओ...। सेवा केन्द्र के निर्माण में 10 की जगह 8 लाख 80 हजार लगा। बाकी 1लाख 20 हजार पंचायत के बचत खाते में गए। ऐसा मजबूत सेवा केन्द्र बना है, अभी भी उसमें कहीं कोई टूट-फूट नहीं है.... जबकि बाकी पंचायत के सेवा केन्द्र तो टूटने लगे हैं।..... ऐसा ही लड़कियों के स्कूल को लेकर भी हुआ। लड़कियों का एक स्कूल था गांव में, जिसमें 13 छोटे-छोटे कमरे थे।....एक एक कमरे में पांच छह लड़कियों के बैठने की जगह थी.... पच्चीस-बीस लड़कियां होती थीं..... पंचायत समिति को बोला कि कमरे बनवा दो... हमारी लड़कियों को कम पड़ रहे हैं कमरे... पर कुछ नहीं हो रहा था.....। गांव मे कलेक्टर साहब और बी.डी.ओ. का दौरा हुआ। पंचायत समिति की मीटिंग बुलाई सबकी। आठ औरते थीं बाकी सब आदमी। बोली पहले महिलाएं बतायेंगी कि गांव में क्या समस्याएं हैं।.... मुझसे पूछा.... तो मैं चट से बोली कि मै सरपंच हूं दो साल हो गए सरपंच बनें.... अनपढ़ हूं.... घाघरा लूगड़ी हूं.... पर ये तो समझती हूं लड़कियों के लिए शिक्षा कितना ज़रूरी है..... स्कूल में छोटे कमरे हैं, दूसरे गांव से भी लड़कियां यहां पढ़ने आती हैं.... कमरे डबल कराने वास्ते कई बार अर्ज़ियां दिए... लेकिन पंचायत का पैसा हो गया ख़त्म...अब और पैसा आए तो काम चालू करवाऊं। हमारी लड़कियां फुटपाथ पर बैठकर पढ़ती हैं, आप लोगों को शरम को न आवे है, पर मुझे आवै।..... कलेक्टर साहब बोले...प्रधान जी बी.डी.ओ. जी ऐसा क्यों हैं?.... प्रधान जी बोले नही नहीं सबको पैसे भेज रहे हैं..... बराबर भेज रहे हैं। मैं बोली.... बराबर भेज रहे हैं इसके लिए..मैं बोली चलो देखो.... कंप्यूटर में देखो.... किसी गांव को 80 हज़ार किसी को एक लाख पर अपना जीरो था.... फिर बी.डी.ओ. साहब चुप हो गये। बोले हां हां! मैं सोचियो भेज दिए हैं.....। कितना कमरा बड़ा करना है? पूछे मुझसे, मैं बोली तेरह कमरे। दो तीन दिन बाद खुद कलेक्टर साहब आयें...

नोरती बाई ने अपनी ज़िम्मेदारी के आगे जाति धर्म जैसी सोच को कभी आड़े नहीं आने दिया।

'हमारे मुसलमान भाइयों का कब्रिस्तान के लिए 12 बीघा ज़मीन निकाला वहां चारदिवारी करवा दी... गांव के लिए कब्रिस्तान बनवा दिया, धर्मशाला बनवा दिया, पानी की टंकी बनवा दी।...मैंने देखा पुराने कब्रिस्तान में तीन तीन-चार घंटे लाशें पड़ी रहती थीं, जगह नहीं होती थी.... लोग दूर दूर जाते थे, गड्ढा करके लाशे दफ़नाने के लिए.... मुझे बहुत दुख होता था।'

नोरती बाई ने अपने पांच साल के कार्यकाल में पंचायत के गांवों के विकास के लिए कोई कसर नहीं छोड़ी। लड़कियों के लिए स्कूलों में कंप्यूटर प्रशिक्षण केन्द्र बनवाए। पंचायत की ज़मीन पर भू-माफिया ने कब्जा कर रखा था, उनसे संघर्ष करके ज़मीन पंचायत को दी जिस पर अस्पताल बनवाया गया। कंप्यूटर के माध्यम का इस्तेमाल करके 11 गांवों में सभी जल संसाधनों का नक्शा बनाया, जो राज्य में जल संकट से निपटने की दिशा में एक

कदम था। पंचायत के लिए एक करोड़ का काम मनरेगा के तहत ले कर आईं। मनरेगा के तहत स्थानीय लोगों को रोजगार उपलब्ध करवाते हुए 3000 से अधिक पेड़ लगवाए।

नोरती की योजना गांव के विकास के लिए आगे और भी बहुत कुछ करने की थी, लेकिन राज्य सरकार के नए आदेश जिसमें कहा गया कि पंचायती राज के चुनावों में वही उम्मीदवारी कर सकते हैं जिन्होंने कम से कम आठवीं तक की शिक्षा हासिल की है।

'पांच साल पहले ये नियम लग जाता तो हमारा भी नंबर नहीं आता । मैं इस तरह के काम 50 साल से कर रई हूं जो पढ़े-लिखे भी कभी नहीं करते हैं, अखिर आपको लोगों के दिलों में रहना है। जो लोग खुद गरीब हैं वह गरीबों के दुखों और दिक़्क़तों को ज़्यादा बेहतर तरीके से समझ सकते हैं, और उनके लिए काम कर सकते हैं। सरकार को हम जैसे लोगों को पंचायत चुनाव से अलग करते हुए यह सब सोचना चाहिए।' नोरती बाई ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी राज्य सरकार के इस आदेश के खिलाफ कोर्ट में अपील किया, और फैसला उनके पक्ष में आया। 2014 में सरपंच के पद से हटी लेकिन काम उनका अभी भी जारी है।

'महिलाएं घर पर आती हैं, पेंशन नहीं हो रहा, राशन नहीं हो रहा यो कोई दूसरी दिक़्क़त तो उनके साथ जाकर उनका काम करवाती.... उनको जिस तरह की मदद चाहिए होती.... पूरी कोशिश करती देने की।'

नोरती बाई एक ऐसी कम्युनिटी लीडर है जिन्होंने अपने समुदाय के विकास और महिला कामगारों के हक़ों के लिए हमेशा संघर्ष किया है, उनके इस महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए 2007 में सी.आई.आई. भारती वुमेन एग्जम्पलर अवॉर्ड से सम्मानित किया गया था। उन्हें बेंगलुरु में मीडिया, आईटी और ज़मीन स्तर के विकास पर हुए सम्मेलन मे वक्ता के रूप में आमंत्रित किया गया था। नोरती बाई का महिलाओं के अधिकार और असंगठित क्षेत्र की महिला कामगारों के अधिकारों के लिए मजदूर किसान शक्ति संगठन के साथ मिलकर कामगारों के अधिकारों और 'जवाबदेही के अधिकार' पर संघर्ष जारी है।

'संघर्ष करते.... जीत हासिल होती.... कोई कानून बनता तो दुगूना जोश आ जाता.... जवानी आ जाती। फिर जनता के दूसरे हक के लिए संघर्ष में लग जाती।' नोरती बाई ने मुस्कुराते हुए कहा।'

नोरती बाई के पास संघर्ष की और भी बहुत सारी छोटी बड़ी घटनाएं हैं, पर घड़ी की सुईयां तेजी से भाग रहीं थीं, और उन्हें वापिस दूर अपने गांव जाना था... जहां की सड़कें बरसात में और टूट-फूट गई थीं।...... हमें उनका और ज़्यादा समय लेना ठीक नहीं लगा। गले मिल कर उनसे विदा लिया। हालांकि अभी भी बहुत सारी बातें मेरे मन में घूम रही थीं। नोरती बाई, जिन्होंने कोई औपचारिक शिक्षा नहीं हासिल की न ही उनकी ऐसी कोई पृष्ठभूमि है जो उनके नेतृत्व क्षमता के विकास में उनकी मदद करता, जीवन की परिस्थितियां भी कुछ ऐसी नहीं रहीं जो उन्हें बढ़ावा देतीं, इसके बावजूद एक कम्युनिटी लीडर के तौर पर जिस तरह से वह उभर कर आईं हैं वह सचमुच में काबिले तारीफ़ है। इसका श्रेय काफ़ी हद तक मजदूर किसान संगठन और अरुणा रॉय को भी जाता है, जिन्होंने नोरती बाई की नेतृत्व क्षमता को पहचाना और उसे विकसित करने में नोरती बाई की मदद की। नोरती बाई ये खुद भी स्वीकार करती हैं कि उनमें जो हिम्मत, काम कैसे करना है, महिलाओं के अधिकारों

के लिए कैसे आवाज उठानी है, ये सारी बातें संस्था और अरुणा जी से सीखा है। समुदायों में नोरती बाई जैसी कई महिलाएं हैं जिनकी नेतृत्व क्षमता को विकसित करने की ज़रूरत है, उनमें हिम्मत और जज़्बा पैदा करने की ज़रूरत है, तभी महिलाओं के अधिकारों को आवाज़ मिलेगी।

इस साक्षात्कार के लेखन में 'स्कूल ऑफ़ डेमोक्रेसी' की शीला कंवर के सहयोग के लिए हम विशेष आभारी हैं

अरुणा रॉयः पूर्व लोक प्रशासनिक अधिकारी और मजदूर किसान शक्ति संगठन की सह संस्थापक हैं। अरुणा जी 1968 में भारतीय प्रशासनिक सेवा में आई लेकिन राजस्थान के ग्रामीण कामगारों की स्थिति को देखते हुए उन्होंने 1975 में प्रशासनिक सेवा से इस्तीफ़ा दे दिया, और कामगारों के अधिकारों के लिए संघर्ष के काम में पूरी तरह से जुट गईं। 1990 में उन्होंने निखिल डे, शंकर सिंह और देवडंगरी जिले के स्थानीय समुदाय के कई अन्य लोगों के साथ, सामूहिक रूप से मजदूर किसान शक्ति संगठन का गठन किया। मजदूर किसान शक्ति संगठन ने सूचना का अधिकार कानून का मसौदा तैयार करने और उसकी पैरोकारी करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जिसे 2005 में भारतीय संसद द्वारा पारित किया गया। उन्होंने समानता और समानता के संवैधानिक अधिकारों- काम का अधिकार, गरीबों तक उनकी पहुंच जैसे अभियानों में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अरुणा जी भारत की राष्ट्रीय सलाहकार परिषद की सदस्य भी रहीं और सदस्य के रूप में उन्होंने सूचना का अधिकार व 2005 में रोजगार का अधिकार कानून (मनरेगा) के लिए कानून पारित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अरुणा जी, देश में चलने वाले कई लोकतांत्रिक आंदोलनों व अभियानों का हिस्सा रही हैं और नेशनल फ़ेडरेशन ऑफ़ इंडियन विमेन की अध्यक्ष रही हैं। अरुणा जी का कामगारों के अधिकारों के लिए संघर्ष जारी है, हम उनके संघर्ष को सलाम करते हैं।

संजीत 'बंकर' रॉयः बंकर रॉय भारत की प्रशासनिक सेवा के अच्छे ओहदे के लिए पूरी तरह से तैयार थे। एक अच्छी पारिवारिक व शैक्षणिक पृष्ठभूमि, लेकिन 1976 में, जिस साल उन्होंने बी.ए. की डिग्री हासिल की, उसी साल बिहार में अकाल पड़ा था। उन्हें अकाल की उस बदहाल स्थिति ने इतना बेचैन किया कि उन्होंने अपना जीवन गरीबों की सेवा में लगाने का फैसला कर लिया। सबसे पहले उन्होंने अपने परिवार को त्याग दिया और गरीबों की आवाज़ बनने के लिए निकल पड़े। बंकर राजस्थान के तिलोनिया गांव चले गए और सूखाग्रस्त क्षेत्र में पानी के मुद्दों पर काम करना शुरू कर दिया। 1972 में बंकर ने सामाजिक कार्य और अनुसंधान केन्द्र की स्थापना की और उनका काम पानी और सिंचाई से लेकर सशक्तिकरण और आजीविका जैसे व्यापक मुद्दों तक फैल गया। सामाजिक कार्य एवं अनुसंधान केन्द्र जिसे अब बेयरफुट कॉलेज कहा जाता है। बेयरफुट कॉलेज जो की जयपुर से 100 किलोमीटर दूर तिलोनिया में है, लेकिन वहां पढ़ने आने वाले लोग विदेशों के भी हैं। आज तक बेयरफुट कॉलेज ने आधुनिक दुनिया में नौकरियों के लिए 3 मिलियन से भी अधिक लोगों को प्रशिक्षित किया है। सौर इंजीनियरों के अलावा, शिक्षक, दाइयों, जल ड्रिलरो, फ़ोन ऑपरेटरों, लोहार, बढ़ई, राजमिस्त्री, बुनकर, वास्तुकार, दंत चिकित्सकों व डॉक्टरों को तैयार किया है। और यह सब इतनी कमज़ोर इमारतों में हुआ है, जहां के फ़र्श मिट्टी के हैं और कुर्सियां नहीं हैं। बंकर रॉय ने गरीबी से संघर्ष का अपना तरीका खोजा है-सीमित साधन होते हुए भी खुद को मजबूत और सक्षम करना। बंकर रॉय का मानना है कि ग्रामीण समस्याओं का कोई शहरी समाधान नहीं है।

सामंथा का विश्वास

बुराड़ी जो कि दिल्ली के पूर्वी हिस्से में है, वहां एक कॉलोनी है जिसका नाम है 'बंगाली कॉलोनी'। इस कॉलोनी के बसने और उसके नाम के पीछे की कहानी काफ़ी दिलचस्प है। 1980 के दशक में मछुआरों का एक छोटा समुदाय बंगलादेश से पलायन करके दिल्ली के इस हिस्से में आ कर बस गया था। ये लोग बांग्ला भाषी थे, तो आसपास के दूसरे लोगों ने इस हिस्से का नाम ही बंगाली कॉलोनी रख दिया। सामंथा का परिवार भी पलायन करके आए इस छोटे समुदाय का हिस्सा है। सामंथा अपनी दादी के मुंह से ये कहानी कई बार सुन चुकी है कि कैसे उसका ये परिवार पोटली में कुछ कपड़े, थोड़ा सा चावल-दाल, कुछ बर्तन, दिल में डर और आंखों में बेहतर ज़िंदगी के सपने लिए दिल्ली शहर में आया था। सोचा था कि दिल्ली बड़ा शहर है... सिर छुपाने के लिए थोड़ी जगह मिल ही जाएगी..... और हाथों को कुछ काम भी। अब ज़रूरी तो नहीं है कि मछुआरे के बच्चे भी मछुआरे का काम ही करें!..... पर उन्हें कोई दूसरा काम नहीं मिला जिससे परिवार अपना गुजर-बसर कर सके। दिल्ली शहर की भीड़-भाड़, और आसमान छूती महंगाई ने उन्हें वापिस अपने पुराने काम की ओर लौटने को मजबूर कर दिया। उन्होंने यमुना नदी से मछली पकड़ कर बेचने का काम शुरू कर दिया।

यमुना में मछली पकड़ने का काम बहुत बिखरे हुए तरीके से होता है। कुछ मछुआरे अकेले मछली पकड़ने का काम करते हैं, तो कुछ छोटे समूहों में। मछली पकड़ने के लिए लाईसेंस की ज़रूरत होती है। एक सौ पचास रुपये दो, लाइसेंस आपको मिल जाएगा। ये लाईसेंस एक साल के लिए वैध होता है। जो व्यक्ति लाईसेंस बनवाता है, उसे यमुना के पानी में मछली पकड़ने का एक कानूनी अधिकार तो मिलता ही है, साथ ही अगर मछली पकड़ने के दौरान उनके साथ कोई दुर्घटना होती है तो बीमा के रूप में दो लाख की मदद भी मिलती है। इस बारे में सामंथा के बाबा को भी कई साल तक जानकारी नहीं थी। सामंथा ने ही यह कहीं पढ़ा था तो बाबा को इस बारे में बताया। बाबा ने ज़रूरत को समझते हुए तुरंत ही लाइसेंस बनवा लिया।

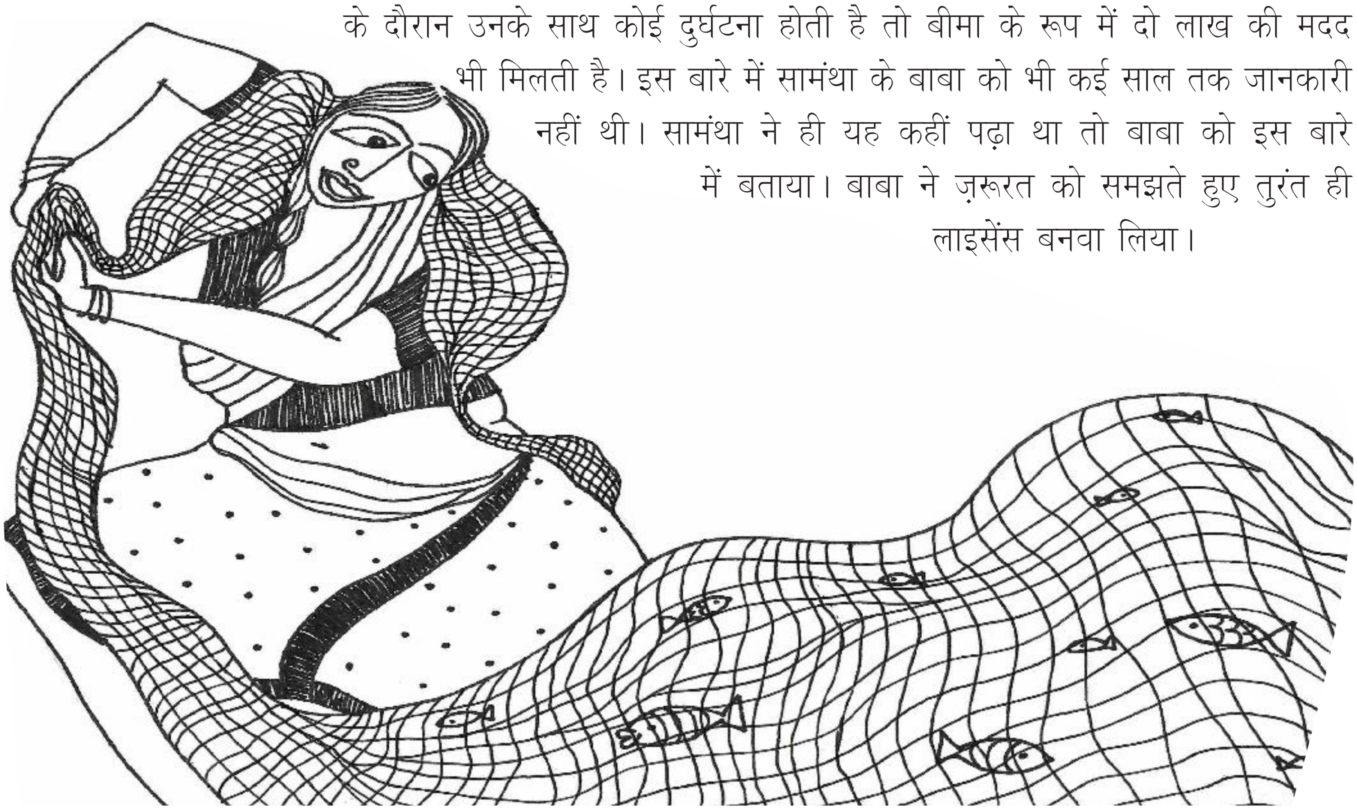

सामंथा के बाबा अविनाश हलदर हर दिन नाव और बड़ा जाल लेकर बंगाली कालोनी के दूसरे मछुआरों के साथ मछली पकड़ने निकल पड़ते थे। सभी मछुआरों ने अपने लाइसेंस बनवा रखे थे। लेकिन ये जब भी मछली पकड़ने जाते हैं, यह कोई निश्चित नहीं होता कि इतने किलो वे मछली पकड़ कर लायेंगे ही, कभी कम मछली वे पकड़ पाते, कभी ज़्यादा। यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि यमुना में पानी कितना है या नदी की धारा किस तरफ़ है। जब सब ही स्थितियां उनके पाले में होती थीं तो उनका समूह दो या तीन क्विंटल मछली पकड़ के ले आता था...... लेकिन ऐसा भी होता था कि वे मुश्किल से 15 किलो मछली ही पकड़ पाते थे। ये लोग पकड़ी हुई मछली को आपस में समान रूप से बांट लेते थे। अब्बा का काम तो लगभग यहीं खत्म हो जाता था, पर सामंथा की अम्मा का काम तो मानो कभी खत्म ही नहीं होता था।

अम्मा को पकड़ी हुई मछलियों को लोकल मार्केट में बेचने जाना होता था। वो सुबह 4 बजे उठ जातीं, घर का सारा काम निपटाती, जैसे खाना बनाना, बर्तन, कपड़े धोना, बच्चों को और सामंथा के दादा-दादी को खाना परोसना और भी कई सारे छोटे बड़े काम, इनको पूरा करने के बाद मछली लेकर बाज़ार की तरफ़ निकल पड़ती। अम्मा बच्चों पर घर की कोई ज़िम्मेदारी नहीं डालना चाहती थीं। उनका मानना था बच्चों का काम पढ़ना है, उस पर ही वो ध्यान दें। सुबह 7 बजे 'टेम्पो' आ जाता था, उसमें उस कॉलोनी की सभी मछुआरन महिलाएं सवार हो कर बाज़ार में पहुंच जाती थीं। घर लौटने का समय कोई निश्चित नहीं था, अगर मछली बिक गई तो एक डेढ़ बजे तक घर पहुंच जाती थीं। अम्मा का काम केवल मछली बेचना नहीं था, बल्कि मछली पकड़ने वाले जाल की मरम्मत, चारा इकट्ठा करना, मछली पकड़ने के लिए बाबा जाते थे तो उनके लिए खाना तैयार करना, साथ में मछली की कटाई, उसकी छंटाई, सफ़ाई, उसे सुखाना, जमाना.... सभी कुछ वह करती थीं। उन जैसी दूसरी महिलाएं भी यह सब करती हैं... पर इन कामों को... इतनी मेहनत को समझने वाला कौन है!

सामंथा अब बीस बरस की हो गई है, उसे अपने मां-बाप की कड़ी मेहनत का पूरा एहसास है... उसे उन पर गर्व है कि इतनी मेहनत करके वे उसे और उसके भाई को अच्छे स्कूलों में पढ़वा रहे हैं। लेकिन कई बार बुरे वक्त का अंदाज़ा पहले से नहीं लगाया जा सकता.... कुछ ऐसा ही हुआ सामंथा के परिवार के साथ भी। कोरोना महामारी के पहले दौर-2020 में इस बीमारी की चपेट में सामंथा के बाबा भी आ गये, और रोते-बिलखते परिवार को छोड़ कर चले गये। सामंथा की अम्मा इस दुख को झेल नहीं पाईं और गहरे सदमे में चली गई। न किसी से मिलना-जुलना, न किसी से बात करना... गहरी उदासी पूरे घर में पसर गई। लॉकडाउन हटने के बाद भी अम्मा वापिस काम पर नहीं गईं, तब सामंथा और उसके भाई ने बिना कुछ कहे काम करने की और घर चलाने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।

सामंथा नहीं चाहती थी कि भाई अपनी पढ़ाई छोड़े.... पर समाज इस बात के लिए मानसिक तौर पर तैयार नहीं था कि एक लड़की मछली पकड़ने जाए.... लड़कियों को मछली पकड़ने की अनुमति नहीं थी। मजबूरन भाई को भी अपनी पढ़ाई छोड़नी पड़ी। मछली पकड़ने का उसे अनुभव नहीं था, चाचा ने कहा कि वह इसमें इनकी मदद करेंगे। अब वह भी रोज सुबह दूसरे मछुआरों के साथ मछली के लिए जाल लेकर निकलने लगा। वहीं अम्मा के हिस्से के सभी काम सामंथा के कंधे पर आ गए।

घर का काम तो फिर भी किसी तरह संभाल लेगी... पर मछली वाले काम कैसे संभाल पाएगी!... 'ग्राहकों से मोल भाव कैसे करूंगी?' वो मन ही मन बुदबुदाई।. 'भइया जी तीन सौ का किलो है, लेना है तो बोलो? एकदम ताज़ी है.'.... सामंथा आवाज़ लगाने की प्रैक्टिस करने लगी। कल काम पर उसका पहला दिन है। वो उत्सुक भी है और घबराई हुई भी है। फिर उसे याद आया कि कल से तो उसके पीरियड्स भी शुरू हैं.... अम्मा बताती थीं कि बाज़ार में महिलाओं के लिए टॉयलेट भी नहीं है, फिर वह कहां जा कर पैड बदलेगी, कहां टॉयलेट जाएगी। उसे टेंशन होने लगी। उसे याद आया कि एक बार उसके बाबा ने एक किताब दी थी, जिसमें महिला मछुआरों की कहानी थी, उनकी दिक़्क़तों का भी उसमें जिक्र था, शायद उसमें कुछ काम की बात मिल जाए!

पत्रिका में बहुत तरह की कहानियां थीं-कुछ तो ऐसी कि लगता बस उसकी ही कहानी हो, पढ़ते-पढ़ते कुछ कहानी, घटनाएं, और बातें अपनी गहरी छाप छोड़ गईं। ख़ासतौर पर मशहूर ट्रेड यूनियन के नेता नलिनी नायक जी की सोच और उनकी बातें सामंथा के ज़ेहन में जैसे गूंज रही थीं। वह बार-बार उस हिस्से को पढ़ कर गहराई से उन बातों को समझने की कोशिश कर रही थी। पत्रिका के एक लेख में नलिनी जी का इंटरव्यू था, जिसमें बताया गया है कि वो तीन दशकों से भी ज़्यादा समय से 'प्रोत्साहन' त्रिवेंद्रम और 'सेवा' केरल संगठन से जुड़ी रही हैं और तटीय समुदायों, ख़ास तौर पर महिला मछली कामगार और उनके मुद्दों पर काम करती आई हैं। इस इंटरव्यू में नलिनी जी बता रही हैं कि पहले मछुआरों के लिए 'फ़िशरमैन'-पुरुष मछुआरा, शब्द इस्तेमाल किया जाता था। मतलब यह मान कर चला जा रहा था कि 'मछुआरा' पुरुष ही होता है। जबकि यह सच नहीं है, किसानी की तरह इस व्यवसाय में भी महिला श्रम बल का बहुत बड़ा हिस्सा है, मछली पकड़ने के अलावा इनसे जुड़े दूसरे सभी काम महिलाएं करती हैं। लेकिन इस श्रम को पितृसत्तात्मक समाज ने जानबूझ कर नज़रअंदाज कर रखा है। और इस सोच को बदलने के लिए नारीवादी कार्यकर्ताओं और महिला मछली कामगारों ने संघर्ष किया। ये संघर्ष केवल भारत, दक्षिण एशिया में ही नहीं; बल्कि दुनिया भर में चला। इस संघर्ष का यह परिणाम हुआ कि महिला मछली कामगारों को कुछ हद तक पहचान मिली और उनके बराबर के अधिकार की बात उठी। पत्रिका में कई उदाहरणों द्वारा बताया जा रहा है कि महिलाओं को पहचान के बावजूद मछली व्यवसाय में कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

आज भी कई जगह ये मान्यता है कि मछली पकड़ने के लिए समुद्र में पुरुष ही उतर सकते हैं.... महिलाएं 'अशुद्ध' होती हैं और वो समुद्र को 'गन्दा' कर देंगी... इस सोच ने महिलाओं को इस व्यापार में पुरुषों पर निर्भर बनाया हुआ है। यही नहीं, ये भेदभाव और भी तरीकों में दिखाई देता है... जैसे कि मछली व्यापार से जुड़े बाकी कामकाजों के साथ-साथ, महिलाओं पर घर-परिवार के देखभाल की पूरी ज़िम्मेदारी, व्यापार से जुड़े ज़रूरी फैसलों में उनकी कोई रायशुमारी नहीं। और यह भेदभाव इतना गहरा है कि इसकी झलक राज्य के कानून, नीतियों व योजनाओं में भी नज़र आती है। आज भी महिला मछली कामगारों की, व्यापार के लिए पूंजी और सामाजिक सुरक्षा तक पहुंच बहुत सीमित है।

यह सब पढ़ कर सामंथा को घुटन सी महसूस हो रही थी...... क्यों महिलाएं इस भेदभाव को चुपचाप सहती चली आ रही हैं, कोई विरोध क्यों नहीं करता है!.... पर ऐसा नहीं है.... इन चुनौतियों के ख़िलाफ महिलाओं ने आवाज़

उठाई है, जिनके कई किस्से पत्रिका में शामिल थे.... सामंथा जैसे-जैसे उस पत्रिका के पन्ने पलट रही थी, उसकी दिलचस्पी बढ़ती जा रही थी।.... पहला किस्सा मुम्बई के 150 साल पुराने साप्ताहिक "मारोल सुखे मछली बाज़ार का था जिसमें महिला विक्रेताओं के बारे में बात की गई थी। 1960 के दशक में, स्थानीय नगर निगम ने एक बाज़ार बनाया, जिसमें मछली बेचने के लिए सीमेंट के साधारण आयताकार ब्लॉक जैसी दुकानें बनाई गईं। लेकिन 1991 में इस ढांचे को तोड़ दिया गया और उसके बाद 11 साल तक उसके मरम्मत या निर्माण का काम नहीं हुआ। इन महिला विक्रेताओं को खुले में, मलबे और कचरे के ढेर में बैठ कर मछली बेचने के लिए मजबूर होना पड़ा। महिला विक्रेताओं ने नगर निगम के इस रवैये के विरोध में खुद को महिला मंडलों में संगठित किया और 2005 में उन्होंने "मारोल बाज़ार कोली महिला मासे विक्रेता संस्था '(MBKMMV)' का गठन किया। उन्होंने नगर निगम पर लगातार अपना दबाव बनाए रखा, जिसके बाद निगम को बाज़ार का पुनर्विकास करवाना पड़ा। इस संगठन ने बाज़ार में रोशनी, शौचालयों और पीने के पानी की भी व्यवस्था करवाई।

दूसरा किस्सा केरल की 45 साल की के सी रेखा से जुड़ा है, जो भारत की पहली और एकमात्र मछुआरन महिला हैं जिन्होंने गहरे पानी में उतरकर मछली पकड़ने का लाईसेंस हासिल किया है। उन्हें 2017 में अपना लाईसेंस मिला। रेखा ने समाज की उस सोच से विद्रोह किया जो महिलाओं से यह उम्मीद रखती है कि वे घर पर रहकर अपने पति की सुरक्षित वापसी के लिए बस प्रार्थना करें और समुद्र में ना उतरें। इस लड़ाई में उनके पति ने उनका पूरा साथ दिया। उनके पति का कहना है कि वे मछली पकड़ने में उनसे कहीं अधिक कुशल हैं और पानी की गति को बेहतर ढंग से समझती हैं।

अगली कहानी है शीला नायक की। झारखंड की राजधानी रांची के जिला मुख्यालय से करीब 35 किलोमीटर दूर अनागड़ा ब्लॉक के महिसापुर बागान टोले में लगभग 45 घर हैं, उनमें से एक 45 वर्षीय शीला नाईक का है। नाव से मछली पकड़ना इस समुदाय के पुरुषों का पारम्परिक काम है। शीला की कहानी खास है, क्योंकि उन्होंने ऐसे काम को चुना जो पुरुष प्रधान था या एक तरह से कहें तो महिलाओं के लिए वर्जित था। उसने पारम्परिक पुरूष प्रधान सोच रखने वाले मछुआरा समाज की कई मान्यताओं को चुनौती दी। उससे प्रेरित होकर कई महिलाएं अब इस काम को अपनाने लगी हैं।

इन मछुआरन महिलाओं के बारे में जानकर सामंथा का मन जोश से भर गया है, पर पत्रिका का अंतिम पन्ना आ गया था। वो ऐसी और कहानियां जानना चाहती थी। उसके पास तो फ़ोन नहीं है, तो उसने अपने भाई का फ़ोन उठाया और गूगल सर्च करने लगी। उसकी एक लेख पर नज़र गई, जिसमें 1960 के दशक में भारत के दक्षिण में स्थित राज्य केरल में हुए मछुआरा आंदोलन के बारे में बताया गया है। यह आंदोलन समुद्र पर मछुआरों के पारंपरिक अधिकार और कॉरपोरेट और औद्योगिक ताकतों के बीच के संघर्ष की कहानी है।

इसका इतिहास है कि सन 1953 में भारत ने इंडी-नॉर्वियन प्रोजेक्ट के तहत एक त्रिपक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर किया था। ये समझौता संयुक्त राष्ट्र, भारत सरकार और नॉर्वे सरकार के बीच पिछड़ी अर्थव्यवस्था की मदद करने के लिए हुआ था। इसके बाद मछली पालन के इस व्यवसाय में तकनीकी प्रक्रियाएं भी शामिल होने लगीं। 1960 के दशक में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर झींगा मछली की मांग में बढ़ोतरी देखी गई। जिसे देखते हुए भारत सरकार ने

झींगा मछली के पालन पर बहुत जोर देना शरू किया। इसके लिए मशीनों से चलने वाली नावें बनाई गईं, ट्रावल के जाल बनाए गए और मछुआरों को इन जालों का इस्तेमाल करने के लिए ट्रेनिंग भी दी जाने लगी। ऐसी स्थिति में बिचौलियों की भूमिका इस क्षेत्र में काफ़ी बढ़ गई और पारंपरिक मछुआरों को इससे बाहर किया जाने लगा। मशीन वाले नाव और ट्रावल का समुद्र के जीवों पर भी असर पड़ने लगा, मछलियां तबाह होने लगीं। इसीलिए ये संघर्ष मछली कामगारों के अधिकारों और आजीविका के साथ-साथ पर्यावरण की सुरक्षा के लिए भी काफ़ी मशहूर है।

इस संघर्ष में कई संगठन जुड़े और बने। एक ऐसा ही संगठन था- केरल स्वतंत्र मत्स्यथोझिलाली फ़ेडरेशन (के.एस. एम.टी.एफ.) या केरला इंडिपेंडेंट फ़िशवर्कर्स फ़ेडरेशन। कामगारों की मुख्य मांग थी कि ट्रावल जालों पर प्रतिबंध लगाया जाए। आंदोलन के तहत भूख हड़तालें हुईं, विरोध प्रदर्शन हुए, काफ़ी मछुआरों ने अपनी जानें भी गंवाईं।

इस जन आंदोलन में महिला मच्छी कामगारों ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1970 -80 के दशक के अंत तक के एस.एम.टी.एफ़. की महिला विंग स्थापित हुई और उसका नाम रखा गया 'थिरादेसा महिला वेदी' (टी.एम.वी.)। महिलाओं ने आंदोलन की अन्य मांगों का समर्थन तो किया ही साथ ही, इस मंच के जरिए उन्होंने अपनी खास मांगें भी उठाईं।

उनका एक संघर्ष जो काफ़ी प्रचलित है, वो है पब्लिक ट्रांसपोर्ट के इस्तेमाल के अधिकार की मांग के लिए 1979 में किया गया संघर्ष। त्रिवेंद्रम जिले की महिला मच्छी विक्रेता, जो हर रोज़ अपने सिर पर ढेरों मछलियों का बोझ लिए 10 से 15 किलोमीटर की यात्रा करती थीं, उन्हें पब्लिक ट्रांसपोर्ट के इस्तेमाल की अनुमति नहीं थी। इस वजह से ये महिला विक्रेता समय से बाज़ार नहीं पहुंच पाती थीं, जबकि पुरुष विक्रेता बाज़ार पहले पहुंच जाते थे। इन महिला मच्छी विक्रेताओं को देर से बेचने के कारण बिक्री और दाम दोनों में काफ़ी नुकसान उठाना पड़ रहा था। यानि जितनी मेहनत वे कर रही थीं, उसका उचित भुगतान नहीं मिल पा रहा था।

दूसरे नागरिकों की तरह पब्लिक ट्रांसपोर्ट पर यात्रा करने के अपने बुनियादी हक़ को पाने के लिए महिलाएं संगठित हुईं और विरोध करने सड़कों पर आ गईं। उन्होंने धरने किए, मछलियों की टोकरियों के साथ सचिवालय तक मार्च किया। वे अपने दावे पर कायम रहीं, ये हड़ताल चार से पांच साल तक चली। अंततः सरकार को इन महिला आंदोलनकारियों के संघर्ष के सामने झुकना ही पड़ा। मत्स्य विभाग ने महिला मच्छी विक्रेताओं के लिए विशेष बसें शुरू कीं। पर अभी भी अधिकार पूरे नहीं मिले थे। महिला मछली विक्रेताओं के लिए विशेष बसें तो शुरू की गई थीं, लेकिन उन्हें अभी पब्लिक ट्रांसपोर्ट के इस्तेमाल का अधिकार नहीं मिला था।

मछुआरा समुदाय का प्रतिरोध 'एक कदम आगे, दो कदम पीछे' वाक्यांश का प्रतीक है। हालांकि महिला मछुआरों को विशेष बसें तो दी गईं, पर उन्हें कई दिक्क़तें हुईं-बजट की कमी के कारण बसों का रखरखाव ठीक से नहीं हुआ, बसों के किराये बढ़ते गए, यात्राएं रद्द होने लगीं, नई बसें खरीदने के लिए और सड़क दुर्घटना में दिए जाने वाले बीमे के लिए बजट नहीं था। कई बार टी.एम.वी. के तहत महिलाओं ने इन मुद्दों को सरकार के सामने रखा। जो महिलाएं बस से यात्रा करती थीं; ग्राम स्तर पर भी उनकी कमेटी बनाई गई, ताकि उनकी मांगों का

दोहरा दबाव बन सके। सन 2004 में लगभग 500 महिलाओं ने बस प्रशासन के कार्यालय के बाहर कई घंटों तक धरना दिया। आखिरकार प्रशासन महिलाओं से इस मुद्दे पर बातचीत करने के लिए राज़ी हुआ।........ ट्रांसपोर्ट की स्थिति में कुछ सुधार आया। इस ऐतिहासिक संघर्ष के बदौलत कुछ पंचायतों ने मछली विक्रेता महिलाओं के लिए विशेष बस रूट चलाए।

सामंथा की आंखें अब नींद से बोझिल हो रही थीं, उसे सुबह बाज़ार भी जाना था। उसी ने पत्रिका को तकिए के नीचे रख दिया, जैसे वह सपने भी इन महिला कामगारों के देखना चाहती हो।

'हूं...... बदलाव मुमकिन है.... रास्ता आसान नहीं है....... लेकिन हो सकता है ऐसा... हिम्मत नहीं हारनी है..... सभी को एकजुट होना होगा।' मन ही मन वो बुदबुदाई, और उसने आंखें बंद कर लीं। दूर से कुत्ते भौंकने की आवाज़ आ रही थी। सामंथा का सोता हुआ चेहरा इत्मिनान में डूबा हुआ दिख रहा था।

हम अपना अधिकार मांगते, नहीं किसी से भीख मांगते

अखिल भारतीय आंगनवाड़ी कार्यकर्ता और सहायिका फ़ेडरेशन की मुख्य सचिव ए.आर.सिंधु से एक बातचीत

आंगनवाड़ी की शुरूआत भारत सरकार ने साल 1975 में की थी। इसे एकीकृत बाल विकास सेवा कार्यक्रम के तहत शुरू किया गया था। मार्च 2022 के आंकड़ों के अनुसार हमारे देश में 1391004 आंगनवाड़ी केन्द्र हैं, जिनमें 1314433 आंगनवाड़ी कार्यकर्ता कार्यरत् हैं। आंगनवाड़ी केन्द्र भारतीय गांवों में बुनियादी स्वास्थ्य देखभाल उपलब्ध कराते हैं। इनकी स्वास्थ्य देखभाल गतिविधियों में 0-6 साल से कम उम्र के बच्चों को पूरक आहार उपलब्ध कराना, स्कूली शिक्षा शुरू करने से पहले की शिक्षा संबंधी गतिविधियां, बच्चों का टीकाकरण, गर्भनिरोधक परामर्श और आपूर्ति, स्वास्थ्य जांच, पोषण शिक्षा आदि कामों के अलावा सरकार की दूसरी कई

योजनाओं के क्रियान्वयन की ज़िम्मेदारी भी इनके कंधों पर है। हालांकि आंगनवाड़ी कार्यकर्ता और सहायिकाएं फ्रंटलाइन स्तर पर कुछ सबसे महत्त्वपूर्ण सेवाएं प्रदान करती हैं, लेकिन केन्द्र सरकार हमेशा कहती रही है कि वे 'स्वैच्छिक कार्यकर्ता हैं और इसलिए उन्हें जो भुगतान किया जाता है, वह वेतन नहीं; बल्कि 'मानदेय' है। आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं को मानदेय के तौर 3000 रुपये मिला करता था, और मिनी आंगनवाड़ी के कार्यकर्ताओं को 2500 प्रतिमाह मिला करता था। आंगनवाड़ी आंदोलन की प्रमुख मांग इसी मानदेय को बढ़ाने की रही है। और यह मांग धीरे-धीरे पूरे देश के स्तर पर उठी थी।

दिल्ली में आंगनवाड़ी वर्कर्स एंड हेल्पर्स यूनियन के नेतृत्व में आंदोलन लगभग बासठ दिनों तक चला। इस आंदोलन में मानदेय में बढ़ोतरी, कार्यबल में महिलाओं के राजनीतिकरण जैसे मुद्दों को संबोधित किया गया।

यह संघर्ष जून 2017 में शुरू हुआ था, जिसके बाद दिल्ली सरकार ने 22,000 आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं और सहायिकाओं के मानदेय को दोगुना करने का फैसला किया। दिल्ली सरकार ने आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं का मानदेय 5000 रुपये से बढ़ा कर 10170 और आंगनवाड़ी सहायिकाओं का मानदेय 2500 रुपये से बढ़ाकर 5089 रुपये कर दिया गया था। इसी तरह कई दूसरे राज्यों ने भी मानदेय में बढ़ोतरी की। यह संघर्ष केवल मानदेय का ही नहीं था; बल्कि आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं को भी कामगार के तौर पर पहचान का और उन्हें औपचारिक क्षेत्र में लाने की मांग को लेकर भी था। ग्रामीण इलाकों, राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न ट्रेड यूनियनों के समर्थन से अलग-अलग स्तर पर आंदोलन अभी भी चल रहे हैं। इन आंदोलनों में अखिल भारतीय आंगनवाड़ी कार्यकर्ता और सहायिका फ़ेडरेशन की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आइए फ़ेडरेशन की मुख्य सचिव ए.आर. सिंधु से बातचीत करके जानते हैं-इन आंदोलन के संघर्षों के अलग-अलग पड़ाव, चुनौतियों और और ए.आर.सिंधु की अपनी संघर्ष यात्रा के बारे में-

सवालः सिंधु जी! भारत में आंगनवाड़ी कामगारों के आंदोलन की शुरूआत कैसे हुई थी?

ए.आर.सिंधुः केंद्र सरकार की योजना आई.सी.डी.एस. (इंटिग्रेटिड चाइल्ड डवलपमेंट सर्विसिज़) 1975 में शुरू हुई थी। आंगनवाड़ी कामगार और हैल्पर्स इस योजना के अंतर्गत् काम करते हैं। अगले साल इस योजना को आए हुए 50 साल हो जाएंगे। यह योजना पूरी तरह से महिलाओं और बच्चों पर केंद्रित योजना है, जिसके माध्यम से कुपोषण और बाल-मृत्यु-दर को संबोधित किया जाता है। यह योजना एक प्रयोग के तौर पर आरंभ की गई थी। 1975 में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की सरकार ने पूरे देश में आपात्काल की घोषणा कर दी थी। उस समय लोगों की मांग भी थी कि आज़ादी के बाद महिलाओं और बच्चों की बेहतर स्थिति के लिए सरकार कुछ करे। यह योजना बहुत छोटे पैमाने पर शुरू की गई थी। उस समय स्वास्थ्य, सुरक्षित प्रसव, पौष्टिक खाना, साफ़-सफ़ाई और चालू शौचालय तक पहुंच आदि गंभीर मुद्दे थे।

और सरकार ने इन मुद्दों पर जानकारी और जागरूकता बढ़ाने के लिए समुदायों से महिलाओं को चुना; क्योंकि सरकार जानती थी कि अगर सरकारी अफ़सर ये काम करेंगे तो आम लोग जल्दी से उन पर विश्वास नहीं करेंगे। ये योजना काफ़ी कामयाब रही। हमारे संगठन का आकलन कहता है कि जब 1991 में नव उदारवादी नीति आई, तब सब कुछ बदल गया। सरकारी सेवाएं जो बेहतर होती थीं, वो ख़राब होने लगीं। हमारे देश में 90 के

दशक के आखिर में और 2000 की शुरूआत में ग़रीबी और भुखमरी का स्तर काफ़ी बढ़ गया था। खासतौर पर महिलाओं और बच्चों की स्थिति काफ़ी ख़राब थी। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी बातचीत चल रही थी, उसका नतीजा थे- एम.डी.ज़ी (मिलेनियम डवलपमेंट गोल्स)।

हमारी सरकार के पास इस ख़राब/बुरी स्थिति को संबोधित करने के लिए आई.सी.डी.एस. योजना ही एकमात्र तंत्र था। लोगों की तरफ़ से मांग आई कि इस योजना को बड़े पैमाने पर चलाया जाए। 2004 में सुप्रीम कोर्ट ने भी इस योजना को बड़े पैमाने पर लागू करने को कहा।

मगर सी.आई.टी.यू. (सेंटर ऑफ इण्डियन ट्रेड यूनियन) जिस संगठन से मैं जुड़ी हूं, ने 80 के दशक में ही, आंगनवाड़ी कामगारों के साथ काम करना शुरू कर दिया था।

हमारी नज़र में इस योजना की सबसे बड़ी कमी ये थी कि ये एक प्रयोग था। जिन महिलाओं को आंगनवाड़ी कामगार और हैल्पर के तौर पर रखा गया था, उनको फ़ुल-टाइम कामगार की पहचान नहीं दी, उनके काम को काम ही नहीं माना, उल्टा वॉलंटीयर के रूप में इंट्रोड्यूज़ किया। आज भी इतने साल से जो काम किया है, उसे ढांचागत रूप (इंस्टीट्यूशनलाइज़) देने की बात नहीं की। आज भी आई.सी.डी.एस. का ये सिस्टम इसी सोच पर चल रहा है कि महिलाएं जो केयर-वर्क करती हैं, उसको काम की श्रेणी में देखा नहीं जाता है।

आज तक भी आंगनवाड़ी कामगार को जो वेतन मिलता है, उसे मानदेय (ऑनरेरियम) कहा जाता है। उनके काम के कोई नियम व शर्तें तय नहीं किए गए हैं।

सी.आई.टी.यू. की नज़र में जब ये बात आई, तो हमने महिलाओं को संगठित करना शुरू कर दिया। 80 के दशक के अंत तक राज्य स्तर पर आंगनवाड़ी और हैल्पर्स को यूनियन के तौर पर पंजीकृत भी किया। उस वक़्त भी ये सवाल आया कि कुछ राज्यों ने भारत ट्रेड यूनियन कानून के तहत आंगनवाड़ी को पंजीकृत किया और कुछ राज्यों के श्रम विभागों ने कहा कि ये तो कामगार ही नहीं हैं, तो फिर कैसे इनको यूनियन के तौर पर पंजीकृत करें?

1991 में हमने राष्ट्रीय स्तर पर फ़ेडरेशन का गठन किया। आज के समय में 25 राज्यों में हमारे संचालित यूनियन हैं। 1996 में कर्नाटक प्रशासनिक ट्रिब्युनल ने बोला कि इस काम में नियोक्ता और कामगार संबंध स्थापित होता है, इसलिए इस काम को करने वाले को कामगार का दर्जा दिया जाना चाहिए। उस वक़्त हम अपील में सुप्रीम कोर्ट गए, लेकिन कोर्ट ने अजीब सा ऑर्डर पास किया और बोला कि नियोक्ता और कामगार का रिश्ता स्थापित होना कुछ और बात है और कामगार-हैं, ये बोलना कुछ और बात! एक लंबी लड़ाई चल रही है इस बात पर। अभी हाल ही में 2022 में सुप्रीम कोर्ट का एक ऑर्डर आया कि आंगनवाड़ी को भविष्यनिधि (ग्रेच्युटी) का अधिकार है और इस ऑर्डर में ये भी लिखा है कि सरकार चाहे कोई भी शब्द इस्तेमाल करे-ऑनरेरियम बोले, मगर उसका मतलब मासिक वेतन ही है। फिर भी सरकार उन्हें श्रमिक मानने को तैयार नहीं है। जबकि बहुत सी कानूनी-चर्चाओं ने यह स्थापित किया है कि इस कार्य क्षेत्र में नियोक्ता-कर्मचारी संबंध स्पष्ट है। क्योंकि आंगनवाड़ी कामगार का काम सरकारी योजना के तहत आता है, इसलिए उनका एक ढांचा बना हुआ है। लेकिन यह बहुत बिखरा हुआ है। हर गांव में एक आंगनवाड़ी सेंटर है। इनको यूनियनाइज़ करने की प्रक्रिया काफ़ी कठिन, धीमी और लंबी है।

सवालः सिंधु जी! क्या आप ऐसा कोई किस्सा या परिस्थिति बता सकती हैं, जिससे आंगनवाड़ी कामगारों का आंदोलन शुरू हुआ?

ए.आर.सिंधुः जब सी.आई.टी.यू. ने आंगनवाड़ी कामगारों को संगठित करने का काम शुरू किया, तब मैं नहीं थी। मैं 1996 में सी.आई.टी.यू. से जुड़ी। वेस्ट बंगाल में लेफ़्ट पार्टी की सरकार थी, जब इमरजेंसी घोषित की गई थी देश में। उस वक़्त जब इस योजना को इंट्रोड्यूज़ किया गया तो सबने काफ़ी उम्मीदों से इस योजना को देखा। जब ट्रेड यूनियन ने ये देखा कि इस योजना में कहीं पर न्यूनतम मजदूरी की बात नहीं की गई है, कामगारों को कामगार की पहचान नहीं दे रहे और ऊपर से सारी योजना में सरकार ने महिलाओं को ही लगाया है और उनके द्वारा महिलाओं का शोषण हो रहा है, तो ये देखकर सी.आई.टी.यू. लीडर्स ने तय किया कि आंगनवाड़ी कामगारों को संगठित करने की ज़रूरत है। उस समय सी.आई.टी.यू. के ज़्यादातर लीडर्स स्वतंत्रता सेनानी थे और वे देश के लोगों के लिए चिंतित थे और बोलना चाहते थे। 70 के दशक में महिलाओं को संगठित करने का काम काफ़ी मुश्किल था। उस वक़्त महिलाओं के बीच यूनियन को लेकर इतनी जागरूकता नहीं थी। सी.आई.टी.यू. के अंदर भी लोगों की जागरूकता नहीं थी कि महिलाओं को भी श्रमिक के रूप में देखें और उनको आगे ले आएं।

सवालः इस आंदोलन की क्या उपलब्धियां और चुनौतियां रही हैं?

ए.आर.सिंधुः सबसे पहली चुनौती थी कि उस समय ज़्यादातर सी.आई.टी.यू. कार्यकर्ता पुरुष थे और उनको महिलाओं को संगठित करने के लिए गांव-गांव जाना पड़ता था। तो काफ़ी प्लान करना पड़ता था और सी.आई.टी.यू. के अंदर भी इस बात पर ध्यान देना पड़ा कि औरतों की लीडरशिप को कैसे बढ़ाया और मजबूत किया जाए?

इस विचार से भी लड़ना पड़ा कि औरतों को तो घर से बाहर जाने की अनुमति नहीं थी और हम उनको संगठित करने की बात सोच रहे थे। प्रारंभिक चुनौतियां यह थीं कि ग्रामीण उनके काम को मान्यता नहीं देते थे और न ही उन्हें श्रमिक के रूप में पहचानते थे, काम की बिखरी हुई प्रकृति, ज़मीनी स्तर पर प्रारंभिक चरण में महिला नेतृत्व की कमी थी।

इसके अलावा उस समय काम की जगह पर महिलाओं के साथ होने वाली हिंसा के मामले भी बढ़ रहे थे, जैसे कि राजस्थान की भंवरी देवी गैंग रेप, मध्य प्रदेश में एक आंगनवाड़ी सुपरवाइज़र का हाथ हाट दिया गया, क्योंकि उसने बाल विवाह होने से रोका, इस वजह से डर का माहौल बना हुआ था।

एक अच्छी बात ये थी कि चूंकि ये सरकारी तंत्र का हिस्सा था, इसलिए मासिक बैठक होती थी, जिस वजह से औरतों के संगठित होने की बातचीत हो पाई। जिसे हम यूनियन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानते हैं, वो यह है कि महिलाएं अपने अधिकारों और गरिमा को समझ सकीं। 90 के दशक की शुरूआत में राष्ट्रीय स्तर पर हम ट्रेड यूनियन के तौर पर रज़िस्टर हुए और 90 के दशक के अंत तक एक ज्वाइंट ट्रेड यूनियन मंच भी बनाया। सरकार के साथ लंबी पैरवी से आंगनवाड़ी कामगारों के वेतन में बढ़ातरी हुई, छुट्टी और मातृत्व अवकाश का प्रावधान हुआ। इसके अलावा राज्य सरकार से अतिरिक्त पारिश्रमिक का प्रावधान भी हुआ। इसकी शुरूआत लेफ़्ट द्वारा हुई। केरल सरकार की डब्ल्यु.सी.डी. मिनिस्टर और सी.आई.टी.यू. लीडर सुशीला गोपालन ने अतिरिक्त

मानदेय/वेतन (एडिशनल रिम्युनिरेशन) का प्रावधान शुरू किया, फिर इस अभ्यास को अन्य राज्यों द्वारा भी अपनाया गया, वेतन में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

हम पांडिचेरी में नियमितीकरण कर पाए हैं। उन्हें छठे वेतन आयोग का वेतन मिल रहा है। तमिलनाडु में विशेष वेतनमान है। आज के समय में लगभग 20 राज्यों में आंगनवाड़ी कामगारों का वेतन बढ़कर 10,000 रु. हो गया है। काफ़ी राज्यों में सोशल सिक्योरिटी मिल भी रही है।

सवालः पुरुषों और औरतों के लीडरशिप स्टाइल के बारे में आपका क्या मानना है?

ए.आर.सिंधुः मुझे लगता है कि ट्रेड यूनियन लीडरशिप में मुद्दा जेंडर पहचान का नहीं है। एक कामगार-एक कामगार से जुड़ता है। सी.आई.टी.यू. के अंदर भी काफ़ी जागरूकता की कमी है पुरुषों में, जैसे कि जब कोई मीटिंग के लिए बोलते हैं तो वो ये नहीं सोचते कि ऐसा समय निर्धारित करें जब महिलाएं भी शामिल हो सकें। यदि एक महिला का राजनीतिकरण किया जाता है और वह सार्वजनिक जीवन में आती है तो इससे पूरा परिवार और सामाजिक धारणा भी बदल जाती है। तो इस तरह यह बहुत सकारात्मक है। साथ ही मेरी व्यक्तिगत राय है कि महिलाएं बेहतर प्लानर होती हैं। आंगनवाड़ी कामगारों की यूनियन के लीडर्स की बात करें तो वे एक बेहतर मोटिवेटर हैं और अन्य क्षेत्रों के कामगारों को एकत्रित करने में सहायक हैं। खासतौर पर अन्य स्कीम वर्कर जैसे कि आशा वर्कर और मिड-डे वर्कर को संगठित करने में इनकी भूमिका अहम् है।

सवालः आप इंटरसेक्शनेलिटी के नज़रिए से कैसे काम करते हो?

ए.आर.सिंधुः हम जिस समाज में रहते हैं, वहां पर जाति के आधार पर भेदभाव आम बात है। कुछ राज्यों में तो स्थिति काफ़ी ख़राब होती है। आंगनवाड़ी और हैल्पर्स के साथ काम करने के समय की एक सबसे बड़ी चुनौती जातिगत भेदभाव की है।

आप जानते हैं कि आंगनवाड़ी हैल्पर्स ज़्यादातर दलित या हाशिए पर रहने वाले वर्ग से होती हैं और इस वजह से उनका शोषण होता है। ज़्यादा काम का बोझ हैल्पर्स पर ही पड़ता है। ऐसे किस्से भी हुए हैं जहां पर गांव के बच्चों ने खाना नहीं खाया, क्योंकि जिस हैल्पर ने खाना बनाया था वो अनुसूचित जाति की थी। ऐसे मामलों का पता लगने पर हम यूनियन के स्तर पर सख़्त कार्रवाई करते हैं। अगर इस वज़ह से हम किसी नेता को खो देते हैं तो भी हम उसके खिलाफ़ सख्त कार्रवाई करते हैं। हम लगातार इस मुद्दे पर यूनियन के भीतर बातचीत करते हैं।

हमने ये भी देखा है कि जब आंदोलन की कोई लड़ाई हो तो फिर जाति आधारित भेदभाव की बातें और आचरण महिलाएं पीछे छोड़ देती हैं और उनमें एकता आ जाती है।

सवालः सिंधु जी, आपने अपने एक्टिविज़्म की यात्रा कैसे शुरू की-इसके बारे में बताएं? आपको किन चुनौतियों का सामना करना पड़ा?

ए.आर.सिंधुः मैं केरल से हूं। मैंने लेफ़्ट पार्टी के छात्र आंदोलन से अपने एक्टिविज़्म की यात्रा शुरू की। मैं जिस समाज से आती थी, वहां पर ये मान्यता थी कि औरतें भी सड़कों पर धरना देने के लिए उतर सकती हैं। मैं

1996 में दिल्ली आई और सी.आई.टी.यू. से जुड़ी। मैं हमेशा से श्रमिक वर्ग मूवमेंट के साथ काम करना चाहती थी और श्रमिकों को संगठित करने का काम करना चाहती थी।

उत्तर भारत का समाज बहुत अलग है। लोकतांत्रिक चेतना की कमी है लोगों में। उदाहरण के लिए हरियाणा में, यहां समझ नहीं है कि समिति का उद्देश्य क्या है, निर्णय लेने की क्या प्रक्रिया है। आमतौर पर लोग कहते हैं कि दीदी आप कर दो सारे काम या फिर कहते हैं कि हम, आप जो कहोगे उसका पालन करेंगे। लोगों से सक्रिय रूप से भागीदारी करवाना एक चुनौती रहा है। सांस्कृतिक रूप से भी बहुत अलग थीं चीज़ें मेरे लिए। जो मेरे फ़ेवर में काम किया, वो था-मेरी अंग्रेज़ी शिक्षा। इस वजह से मैं काफ़ी सरकारी दस्तावेजों को पढ़कर जानकारी सरलता से लोगों तक पहुंचा देती थी।

सवालः आपको किसने प्रेरित किया?

ए.आर.सिंधुः मुझमें छात्र आंदोलन से श्रमिक वर्ग के प्रति एकजुटता विकसित हुई और एक समतामूलक समाज का सपना देखा। केरला में 80 के दशक में हमारे प्रेरणा के स्रोत थे एर्नेस्तो 'चे' गेवारा और भगत सिंह। और मुझे काफ़ी महिला लीडर्स के साथ काम करने का और उनको देखने का मौका मिला, जैसे कि सुशीला गोपालन, गोदावरी परूलेकर, कैप्टन लक्ष्मी सहगल आदि। वे 24 घंटे काम कर रहे थे और श्रमिकों के बारे में सोच रहे थे। वे स्वार्थी नहीं थे।

सवालः आप इतने सालों से एक एक्टिविस्ट के रूप में काम कर रही हैं, क्या आपको कभी बर्न आउट नहीं हुआ? कभी ऐसा नहीं लगा कि आप अब थक गए हो?

ए.आर.सिंधुः जिन लोगों से मैं प्रेरित हुई हूं, जैसे कि विमला जी, जिनकी उम्र 90 साल से अधिक थी, उन्हें कभी यह कहते हुए नहीं सुना कि वह थकी हुई हैं। वह रैली के दौरान खाना नहीं खाती थीं, भले ही हम उन्हें ऑफ़र करते हों। वह कहती थीं कि लोग यहां है, मैं अभी भोजन नहीं कर सकती। आपके पास थकने का कोई विकल्प या विशेषाधिकार नहीं है। लोग काफ़ी अभावपूर्ण जीवन जी रहे हैं और जब किसी संगठित प्रतिरोध के बाद परिणाम दिखाई देता है, तो आप बस अपना काम जारी रखना चाहते हो। लोगों ने मुझे हमेशा प्रेरित किया है। आंगनवाड़ी कार्यकर्ता, सहायिकाएं और मध्यान्ह भोजन कार्यकर्ता जो कम पैसे में काम करते हैं, वो भी पुलिस, निजी कंपनियों से लड़ रहे हैं और वे सामूहिकता में अपना विश्वास रख रहे हैं, तो हम उन्हें कैसे हतोत्साहित कर सकते हैं!

सवालः आप उभरते हुए नए एक्टिविस्टों को क्या सलाह देना चाहती हैं ?

ए.आर.सिंधुः मुद्दों को गहराई से समझें और नीतिगत स्तर पर चीज़ों की समझ बढ़ाएं, क्योंकि इसका असर हर चीज़ पर पड़ता है, खासतौर पर महिलाओं की ज़िंदगी में। आजकल हम देख सकते हैं कि अधिकतर महिलाओं, विशेषकर असंगठित क्षेत्र की महिलाओं का राजनीतिकरण किया जा रहा है। आप जहां कहीं भी भेदभावपूर्ण और जन-विरोधी मुद्दे देखें, तो उनके खिलाफ़ आक्रामक रूप से लोगों को लामबंद करें और भावनात्मक रूप से दूसरों के प्रति विचारशील रहें। जनता के बीच जागरूकता बढ़ाने के लिए डिज़िटल प्लेटफ़ॉर्म का उपयोग करें, लेकिन याद रखें कि व्यक्तिगत रूप से बातचीत के प्रभाव की जगह कोई नहीं ले सकता!

हे वेणुबाई! तू इतनी उदास क्यों है?...

पुणे घरेलू कामगार स्ट्राइक

'क्यों न हम भी यूनियन से जुड़ जाएं! तब ही शायद कुछ इनका हल निकल सकेगा!'

बीस साल की कविता ने आंखों में उम्मीद लाते हुए कहा। फुर्सत का यह मौका कम ही होता है जब नानी, नवासी और बेटी सुकून से बैठ कर अपने सुख-दुख पर बातचीत कर पाते हैं। अब कल ही तो मां को फिर से काम के लिए निकल जाना है, फिर पता नहीं कब मुलाकात हो। मां, सविता एक कोठी में फुल टाइम काम करती है। एक तरह से उस कोठी की पूरी ज़िम्मेदारी उसके ही कंधों पर है। घर के सारे काम.... यहां तक कि अस्सी साल की बुज़ुर्ग महिला जो कि बिस्तर से उठ भी नहीं सकती हैं... उनकी देखभाल की ज़िम्मेदारी भी। अपने लिए या अपने परिवार के लिए कुछ भी वक्त नहीं। सविता के जीवन और सोच में उदासीनता भर गई है।

"ओ... अनियन" अब ये क्या है? कहां पर है? हमारे घर से दूर तो नहीं पड़ेगा! ऐसी कोई जगह मत जाना जहां शाम को घर वापस आने में देर हो जाए। अभी तो तुझे काम से घर लौटने में ही रात हो जाती है... अब पता नहीं और कहां जाने का सोच रही है' सविता ने घबराते हुए कहा।

अरे मां! अनियन" नहीं! यूनियन! यूनियन! अनियन तो अंग्रेज़ी में प्याज को कहते हैं! यूनियन का मतलब.... हम... यूनियन को हम एक संगठन कह सकते हैं।' कविता हंसते हुए बोली। वो सोचने लगी-कैसे वो अपनी मां को समझाए कि यूनियन क्या होता है। वह अभी सोच ही रही थी कि कुछ ऐसी बात हुई जिसकी उसे उम्मीद ही नहीं थी।

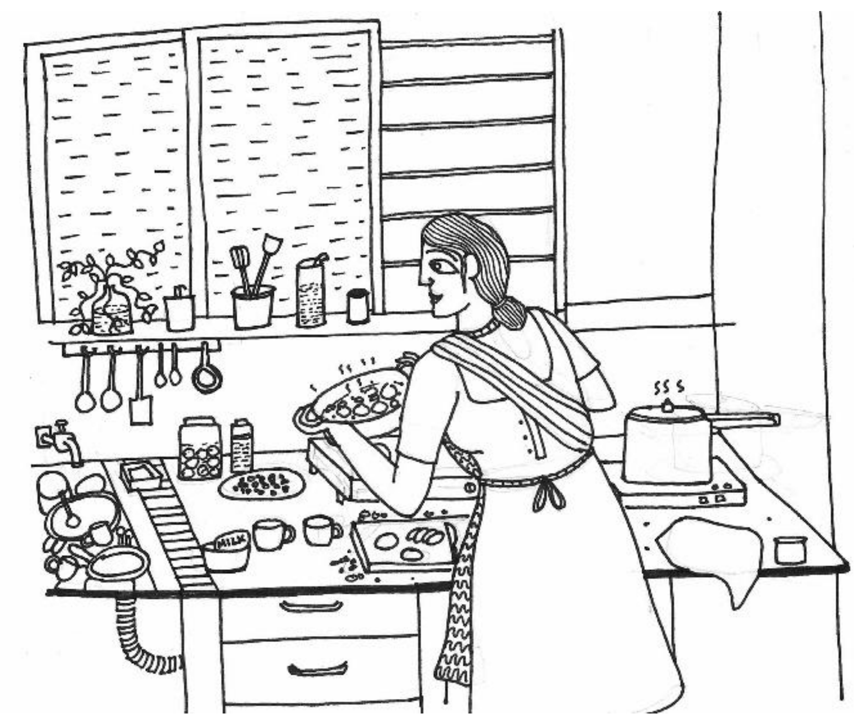

'अरे सविता! तुझे इतना भी नहीं पता, दिमाग भी वहीं कोठी पर छोड़ देती है क्या!' नानी ने सविता को छेड़ने वाले लहज़े में कहा।

'सविता! यूनियन उसको कहते हैं जो काम करने वाले लोग मिल कर बनाते हैं। जो मिल कर उनके काम से जुड़े हक़ों के लिए लड़ता है या आवाज़ उठाता है। यूनियन कामगारों की तरफ़ से सरकार के सामने या नियोक्ता के सामने हमारे हक़ की बात रखता है, जैसे हमारी तनख्वाह की बात हो या काम की जगह पर सुविधा या कोई

भी दूसरी बात, जिससे कामगार को दिक़्क़त होती है-वह रखता है। हमारे देश में, यूनियन का कानून भी है जिसे ट्रेड यूनियन अधिनियम- 1926 कहते हैं।'

'ओ...अच्छा! सविता बड़ी-बड़ी आंखें खोल कर मां की बात सुनने लगी।'

'अरे नानी, क्या बात है! आपको तो दुनिया-जहान की ख़बर है।'

'तुझे यह यूनियन-शूनियन में जुड़ने का भूत कहां चढ़ा?!' सावित्री के कुछ बोलने से पहले सविता ने कविता की तरफ़ देखते हुए पूछा।

'मैं जिस इलाके में काम करती हूं, वहां की कुछ घरेलू कामगार... यूनियन की मीटिंग में जाती हैं। निशा है न ! वही जो बगल के घर पर काम करती है, वो अपने साथ पिछले हफ़्ते मुझे भी यूनियन मीटिंग में ले गई थी।'

'तू कहां पर गई थी? मुझे बिना कुछ बताए चली गई!? सविता ने गुस्से से कहा।'

'अरे मां! मीटिंग पास के पार्क में हुई थी...... और मैं कोई बच्ची थोड़े न हूं!... आप हर बात पर गुस्सा हो जाती हो। आप से तो बात करना मुश्किल है।..... जाओ अब से मैं नहीं बोलूंगी। कविता ने भी ऊंची आवाज़ में जवाब दिया।

'तुम दोनों शांत हो जाओ। हर बात पर आपस में बच्चों जैसे लड़ाई करते हो।

कविता तुम अपनी बात जारी रखो और तुम्हारी मां जो कुछ पूछे उसका जवाब आराम से दो बेटी।' नानी को इस गहमा-गहमी में शामिल होना ही पड़ा।

'मां! पूछो ये कौन सी मीटिंग में जाती है? इन मीटिंगों में क्या बातें करते हैं ये लोग? मैं बता रही हूं...... इसके मालिक को पता चलेगा तो इसको पक्का काम से निकाल देंगे। पूछो आप इससे! मैं कुछ बोलूं तो मुझे गुस्से से खा जाएगी।' सविता मां की तरफ़ देखते हुए बोली।

'उफ़ मां! आप भी न..... (कविता अपने सिर को पकड़ते हुए धीरे से बोली) मां ! यूनियन का नाम है- 'शक्ति-दिल्ली घरेलू कामगार संगठन"। यूनियन की मीटिंग महीने में एक बार होती है और पास के, पार्क में ये मीटिंग होती है। जिस मीटिंग में मैं गई थी वहां पर दो दीदी आई थीं, उन्होंने 15 से 20 मिनट बात की। उन्होंने महिलाओं से पूछा कि किसी को अपने काम की जगह पर किसी तरह की कोई परेशानी तो नहीं है?..... उस मीटिंग में मेरी जैसी दो और नई लड़की आई थीं। उन्होंने हमें बताया कि उनका यह यूनियन 1990 से घरेलू कामगारों को संगठित कर रही है और उनके हक़-जैसे कितना पैसा मिलना चाहिए, छुट्टी की बात, काम की जगह पर नियोक्ता का व्यवहार, हिंसा मुक्त काम की जगह और सामाजिक सुरक्षा-इन बातों के लिए कोशिश में लगे हुए हैं। उन्होंने मुझे ये पर्चा भी दिया, जिसमें उनके काम, कुल सदस्यता, पता आदि जानकारियां हैं। उन्होंने मुझे कहा कि मैं भी अगली मीटिंग में ज़रूर शामिल होऊं और अगर मुझे ठीक लगता है तो... संगठन में जुड़ सकती हूं।'

‘हूं...! पर पता नहीं डर ही लगता है। ज़माना कैसा है...देखा है न! सब अपने स्वार्थ के लिए करते हैं..... कल को पता नहीं क्या मांग कर बैठें... लड़की जात के लिए पता नहीं ये कितना सुरक्षित है। हमको तो डर ही लगता है।’ सविता की आंखों में आशंका साफ़ झलक रही थी।’

‘अरे.... तू कहां की बात कहां पर जोड़ देती है। यहां पर बात हो रही है कि क्या संगठन या यूनियन में जुड़ना चाहिए या नहीं? यूनियन तो खुद कामगारों का होता है, वे खुद बनाते हैं। दूसरी बात, अगर हम डर की वजह से लड़कियों को बाहर जाने नहीं देंगे, लोगों से मिलने नहीं देंगे, तो फिर लड़कियां इस समाज से जूझना और अपनी शर्तों पर जीना सीखेंगी कैसे! माहौल तो सुरक्षित बनाने से बनता है।’ सावित्री की आवाज़ में उत्तेजना थी।

‘हम गरीब लोग हैं और इस पैसे वाले समाज में हमारा कोई मोल नहीं हैं। ये यूनियन के लोग जो मीटिंग करते हैं, वो इसलिए मीटिंग करते हैं, क्योंकि उनको उसके पैसे मिलते हैं। मेरे बच्चे मैं बस तुम्हें निराश होने वे बचाने की कोशिश कर रही हूं।’ सविता ने धीमी आवाज़ में कहा।

‘मां! जो दीदी यूनियन की मीटिंग करती है, वो खुद भी घरेलू कामगार हैं और अपना समय निकाल कर आती हैं।’ कविता ने कहा।

‘कविता! तुमने मुझसे पूछा था कि यूनियन के बारे में मैं इतना कैसे जानती हूं?.... असल में मेरा बचपन इन संघर्षों में ही बीता है। बहुत करीब से देखा यूनियन के काम को। बताती हूं...... मेरी मां, यानि तुम्हारी परनानी ’दुर्गा गायकवाड’ यूनियन की सदस्य थीं। अब यहां दिल्ली आने के बाद... यूनियन से नाता ही टूट गया। पर मेरी मां एक घटना का ज़िर्क करती थीं जो मेरे दिलो-दिमाग में बस गया।’

(सविता और कविता ने उत्सुकता से सावित्री की तरफ़ देखा)

‘ये बात है पुणे शहर की, साल 1980 और महीना फरवरी का था। खंडारेबाई नाम की एक घरेलू कामगार थी, जो पुणे में कर्वे रोड पर एक घर में काम करती थी। तो वह बीमार पड़ गई और छुट्टी पर चली गई। पर जब वह काम पर वापस आई तो उसे पता चला कि उसे नौकरी से निकाल दिया गया है। उसने इसका कारण जानना चाहा तो उसे कहा गया कि उसने चार दिन की छुट्टी मांगी थी, लेकिन वो छह दिनों तक काम पर नहीं आई, इसीलिए उसकी जगह पर किसी और को काम पर लगा लिया गया है।’

‘हां, ये तो अक्सर होता है।...... मेरी सहेली रूपा को भी इसी बात पर काम से निकाल दिया गया था। बीमारी में भला कैसे कोई काम कर सकता है?.... और मां आपको याद है जब पिछली बार आप सप्ताह भर की छुट्टी में घर आई थीं, आपने केवल दो दिन छुट्टी बढ़ाने की बात कही थी; ताकि नानी को अस्पताल में दिखा सको, आपकी मैडम जी ने क्या कहा था, कल से काम पर नहीं आओगी तो आने की ज़रूरत नहीं है!’ कविता ने थोड़े गुस्से में कहा।

‘हां ! ऐसा ही हुआ था। खंडारेबाई ने अपनी ये तकलीफ़ अपनी कामगार साथी पद्मताई सुतार और सुभद्राताई

कंडारे के साथ साझा की। तीनों ने फैसला किया कि उस इलाके में काम करने वाले सभी घरेलू कामगारों को यह बताना चाहिए और इस पर बातचीत करनी चाहिए। खंडारेबाई के साथ हुई इस घटना ने दूसरी कामगारों के अंदर के गुस्से को और भड़का दिया था, क्योंकि यही सब कुछ वे भी लगातार झेलती आ रही थीं।......... उन्होंने सबसे पहले खंडारेबाई की जगह जिस घरेलू कामगार महिला को रखा गया था, उससे बातचीत की और कहा कि वो खंडारेबाई को उसका काम वापस दे दे। पर वह इस बात के लिए तैयार नहीं हुई..... और बहस होते-होते.... यह बातचीत मारपीट में बदल गई । इसके बाद सब बाहर आए और वाडा के गेट पर शिकायत दर्ज कराने की कोशिश की। वहां मौजूद एक शख्स से कहा कि घटना घर के अंदर हुई है, इसकी वजह से कोई शिकायत दर्ज नहीं कराएंगे। उन लोगों ने रास्ते में चलते हुए जो भी घरेलू कामगार मिलीं-उन सब को इस घटना के बारे में बताया।

'फिर क्या हुआ नानी...?' कविता की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी।

'फिर सबने मिलकर इसके खिलाफ़ एक जुलूस निकाला, जिसमें आस-पास के इलाके की कामगार भी शामिल हुईं। जुलूस के बाद, फिर से ये लोग बैठे और उन्होंने मिलकर आगे क्या करना है, इसकी योजना बनाई। यह फैसला हुआ कि एक बार फिर से खंडारेबाई के नियोक्ता से बात करते हैं और उनसे रिक्वेस्ट करते हैं कि खंडारेबाई को वापिस काम पर रख लें। लेकिन इस रिक्वेस्ट का कोई फायदा नहीं हुआ। नियोक्ता, खंडारेबाई को वापिस काम पर रखने के लिए तैयार नहीं हुए।.... लेकिन इन्होंने हिम्मत नहीं हारी और इस मामले में एकजुटता दिखाई। अगले दिन सभी घरेलू कामगार काम पर नहीं आईं। और दूसरे इलाके की कामगारों को भी घटना के बारे में बताया और कहा कि हम हड़ताल पर हैं।.... बस इस बात की खबर जैसे ही फैली.... एक घंटे के भीतर, कर्वे रोड की लगभग 150 घरेलू कामगारों ने अपनी एकजुटता दिखाते हुए खुद ही अपने काम पर जाना बंद कर दिया। अब एक बड़ा जुलूस निकला। जब ये जुलूस जा रहा था, तब उनकी मुलाकात भाल चंद्र केरकर से हुई, जो कि लाल निशान पार्टी से जुड़े कार्यकर्ता थे।

'ये कौन सी पार्टी है?..... इसका नाम तो पहले कभी नहीं सुना है? सविता ने भवें टेढ़ा करते हुए कहा।

'लाल निशान पार्टी, एक कम्युनिस्ट पार्टी थी, जो महाराष्ट्र और दक्षिण भारत के कुछ हिस्से में सक्रिय रूप से काम कर रही थी। जब केरकर ने घटना के बारे में सुना तो उन्होंने कामगारों से कहा कि चिंता न करें और काम पर वापस न जाएं। वहां से कामगारों का एक ग्रुप निकला और प्रभात रोड और फिर कर्वे रोड आया और फिर वहां एक मीटिंग हुई। इस मीटिंग में लीला भोंसले ताई, जो कि एक नारीवादी थीं, और उनकी सहेलियां भी शामिल हुईं। इस मीटिंग के बाद कामगारों ने हर दिन अपना विरोध प्रदर्शन और जुलूस निकालना शुरू किया।

'नानी! ये नारीवादी क्या होता है? और भी कई लोगों के मुंह से ये सुना है।' कविता ने जिज्ञासा से पूछा।

'नारीवाद एक विचारधारा है जो जेण्डर गैरबराबरी का विरोध करती है। यह विचारधारा मानती है कि हर क्षेत्र में चाहे वह आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक हो-महिलाओं को उनमें भागीदारी का समान अधिकार मिलना चाहिए। नारीवादी उसे कहते हैं जो इस सोच को मानते हैं।' नानी की बातों में अनुभव के साथ उनकी मां के विचारों की झलक साफ़ दिख रही थी।

'ओह फिर तो इस संघर्ष को सच में सही दिशा मिल गई होगी! फिर क्या हुआ?' कविता ने पूछा।

'पहली हड़ताल के बाद..... आपस की चर्चा से ये समझ आया कि खाली जुलूस निकालने या हड़ताल करने से बात नहीं बनेगी, कामगारों को कुछ मांगें भी अपनी तरफ़ से रखनी होंगी। हालांकि हड़ताल इसलिए हुई क्योंकि खंडारेबाई को काम से निकाल दिया गया था और घरेलू कामगारों का वेतन भी बहुत कम था, और ये अपने आप में बड़ा कारण था हड़ताल के लिए।.... लेकिन अब कामगारों के सामने ये सवाल था कि नियोक्ताओं तक कैसे पहुंचा जाए? और इस मुद्दे को लेकर आगे बढ़ने के लिए उनकी लगातार बैठकें होने लगीं। और बैठकों में यह महसूस किया गया कि अगर वे एक संगठन के रूप में इस मांग को लेकर आगे बढ़ें तो ज़्यादा बेहतर परिणाम मिलेगा।'

'हां! मैं भी यही सोच रही थी कि अभी तो बस ये कुछ महिला कामगारों की पहल लग रही है, कामगार बिखरी हुई हैं...... क्या उनकी मांगों को मजबूती मिलेगी?' कविता ने उत्सुकता से पूछा।

'हां बिल्कुल! संगठन एक ताकत होती है। और जब हम संगठित होकर किसी मांग को रखते हैं तो उसे नज़रअंदाज़ करना मुश्किल होता है। यह बात उनके बीच में भी उठ कर आई थी।....... आपसी सहमति से उन्होंने इसे एक संगठन का आकार दिया। लाल निशान पार्टी की भागीदारी के साथ, स्थानीय प्रशासक के घर हर रात पांच से छह सौ घरेलू कामगारों की बैठकें होने लगीं। यह सिलसिला कई दिनों तक चला। इन बैठकों में भाग लेने वाले कई कामगार बुजुर्ग भी थे और उनके पास इस काम के अलावा कोई और सहारा नहीं था। मजबूरीवश बेहद कम तनख्वाह के बावजूद वे अपनी नौकरी पर टिके हुए थे।....... इन बैठकों में कामगारों ने अपने काम की स्थिति के बारे में भी बताया कि कैसे वे कम से कम पैसे में ज़्यादा से ज़्यादा काम कर रहे हैं, उनके साथ किस तरह का भेदभाव किया जाता है, बासी खाने को दिया जाता, जिस काम का पैसा नहीं दिया जाता, वह भी कराया जाता है, छुट्टी नहीं मिलती, छुट्टी के पैसे कटते हैं, हमेशा डांट-फटकार वाला व्यवहार मिलता है और भी बहुत कुछ.....। कई कामगार एकल थीं, कई का पूरा परिवार उनकी आमदनी से ही पल रहा था। ज़्यादातर महिला कामगार बिना पानी या बिजली वाली झोंपड़ियों में रहती थीं। उन्हें दुगुना कार्य बोझ संभालना पड़ता था, पहले अपने घर और उसके बाद बाहर.... दोनों जगह काम करना पड़ता था। ज़्यादातर की बेटियां अपनी मां के साथ काम पर जाती थीं। काफ़ी गरीबी में जी रहे थे लोग। मुझे याद है कि जब मेरी मां ने एक घरेलू कामगार की आपबीती सुनाई थी तो उनकी आंखें भरी हुई थीं!'... यह कहकर नानी कुछ देर के लिए रुक गईं। कविता ने देखा कि नानी की आंखें भी पनीली हो गई थीं।

'हूं....!' कविता की इससे आगे पूछने की हिम्मत नहीं हुई। पर फिर नानी कुछ देर रुक कर खुद ही बोल पड़ी।

'मीटिंग में उस कामगार ने बताया कि वह पच्चीस साल से एक वकील के घर में काम कर रही है। जब उसने वहां काम शुरू किया था, तब वह वकील एक छात्र था...... समय के साथ-साथ.... उस वकील की शादी हुई..... बच्चे हुए..... बच्चों की शादी हुई...... बच्चों के बच्चे हुए.... लेकिन उस कामगार का वेतन पूरे समय सिर्फ़ 10 से 12 रुपये महीना ही रहा।" नानी यह कह कर चुप हो गईं।

'नानी! क्या परनानी भी इस बैठक और हड़ताल में शामिल थीं?'

'हां कविता!...... ये हड़ताल कुछ इलाकों में 20 दिन तक भी चली। कामगार अपनी मांगें पूरी होने तक काम पर वापस नहीं गए।..... अंत में कामगारों को नियोक्ताओं ने नई मजदूरी दरों पर काम पर वापस ले लिया।..... उस दौरान इन महिला कामगारों ने बहुत सुंदर प्रतिरोध के गीत बनाए और गाए...।

'हैं!..... हां, गीतों से जोश आता है, किस तरह के गीत थे? आपको कुछ याद है?' कविता ने पूछा।

'हां! कुछ तो याद हैं...ऊं.... जैसे कि "आओ हीरा, आओ-मीरा'....... 'इन्दिरा सरकार, इन प्रश्नों का उत्तर दो!' हे वेणुबाई! तू इतनी उदास क्यों है?'.... 'आइये विरोध प्रदर्शन का नेतृत्व करने में हमारे साथ शामिल हों!" नानी ने गुनगुनाते हुए बोला।

'ओह! तो ये आंदोलन लगभग बीस दिन तक चला?' कविता ने पूछा।

'नहीं...कभी भी जब कोई ऐसी बड़ी घटना होती है तो उसका प्रभाव दूर तक जाता है, और दूसरे लोग भी इससे प्रभावित या प्रेरित होते हैं।..... इस आंदोलन की खबरें पुणे और मुबई के दैनिक समाचार पत्रों में छपीं। इस चरण की हड़ताल की मांग थी-वेतन का फिर से निर्धारण और वेतन सहित बीमारी के लिए छुट्टियां। इस हड़ताल का एक परिणाम था- 'पुणे शहर मोलकर्णी संगठन" यानि पुणे शहर घरेलू कामगार संगठन का गठन। संगठन बनने के बाद बैठकें रोज़ाना होने लगीं और घरेलू कामगारों के लिए वह नया कुछ सीखने की एक जगह बन गई।... घरेलू कामगारों के लिए कोई कानून नहीं है, तो एक तरह से वे नियोक्ता की दया पर निर्भर थे, लेकिन हड़ताल ने ये बता दिया था कि अगर कानून नहीं भी है, तब भी संगठित रूप से मिल कर कामगार के तौर पर अपने अधिकारों के लिए, अपनी बेहतरी के लिए आवाज़ उठा सकते हैं और उसको हासिल भी कर सकते हैं। उनकी सबसे बड़ी समस्या थी-मेहनत का पूरा पैसा न मिलने की। कोई निर्धारित वेतन नहीं, सब नियोक्ता की मर्ज़ी पर है। तो सबसे पहले उन्होंने घरेलू कामगारों के लिए वेतन क्या होना चाहिए-इसका एक ढांचा तैयार किया। इसको तैयार करने में उन्होंने नियोक्ता के घर में कितने लोग हैं, क्या-क्या काम है, नियोक्ता की आर्थिक स्थिति कैसी है, वर्तमान में कितना पैसा मिल रहा है, इन सब बातों को ध्यान में रखा।....... ये तैयार होने के बाद अब आगे आने वाले समय की मांग थी कि वेतन में तुरंत बढ़ोतरी हो, दिवाली पर एक महीने के वेतन के बराबर बोनस मिले, भविष्य निधि या जिसको ऑफ़िस वाले पी.ए.फ. बोलते हैं...... उसके लिए वेतन का कम से कम 15 प्रतिशत का मासिक योगदान, वेतन के साथ बीमारी के लिए छुट्टी, महीने में कितनी अनिवार्य छुट्टी हो और अगर नियोक्ता किसी कारण से शहर से बाहर चला जाता है तो कामगार के वेतन को न काटा जाए और न ही उसे छुट्टी गिना जाए। इन मांगों को पर्चे के रूप में छपवाया गया और नियोक्ताओं में बांट दिया गया।'...... कमरे

में सन्नाटा छाया हुआ था, कविता और सविता दोनों ही सावित्री की बात बड़े ध्यान से सुन रहे थे। कविता को ऐसा लग रहा था कि नानी जो भी बोल रही हैं, वह फ़िल्म की तरह उसकी आंखों के सामने आता जा रहा है।

'सच में नानी, इस घटना ने तो पूरा आंदोलन का रूप ले लिया।' कविता मंत्र-मुग्ध सी बोली।

इस हड़ताल के कारण 1984 से 1996 तक शहर के अलग-अलग इलाकों में कई हड़तालें हुईं, जिनमें से ज़्यादातर वेतन में बढ़ोतरी के लिए थीं।

1980 की हड़ताल और पुणे शहर मोलकर्णी संगठन की स्थापना के बाद, दो और घरेलू कामगार संगठन स्थापित किए गए। एक का गठन अखिल भारतीय लोकतांत्रिक महिला संघ द्वारा किया गया था और इसे पुणे जिला घर कामगार संगठन कहा जाता था; जबकि दूसरे को बाबा आधव की मोलकर्णी पंचायत कहा जाता था। पिछले कुछ वर्षों में तीनों संगठनों ने कई मौकों पर मिलकर काम किया। इन सामूहिक कार्रवाईयों के माध्यम से कई सुधार सुरक्षित किए गए, क्योंकि महिला घरेलू कामगारों ने अपने वेतन और शर्तों और काम की शर्तों पर बातचीत की। साप्ताहिक भुगतान वाली छुट्टी एक महत्वपूर्ण जीत थी। वेतन संशोधन, एक रेट-कार्ड के माध्यम से लागू किया जाता है जो परिवार के सदस्यों की संख्या और साफ़ किए जाने वाले क्षेत्र के वर्ग फुटेज के आधार पर काम की विभिन्न वस्तुओं जैसे बर्तन साफ़ करना, फ़र्श साफ़ करना, कपड़े धोना आदि के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करता है। अन्य लाभ जैसे वार्षिक बोनस, सेवानिवृति ग्रेच्युटी इत्यादि भी निर्धारित किए जाते हैं और संगठनों के माध्यम से स्थानीय बैंकों में भविष्य निधि" एकत्र की जाती है। पुणे में वेतनभोगी घरेलू कामगार अब प्रति माह दो सवैतनिक छुट्टियां लेने के हक़दार हैं, एक ऐसा विशेषाधिकार जो भारत के अन्य हिस्सों में अनसुना है।

बाद में, ये घरेलू कामगार संगठन अन्य समूहों के साथ मिलकर एक संयुक्त मंच पर आए और महाराष्ट्र राज्य सरकार को भुगतान आधारित घरेलू कामगारों के लिए एक मॉडल बिल प्रस्तुत किया। अट्ठाईस साल के लंबे संघर्ष के बाद, राज्य सरकार ने 2008 में घरेलू कामगार अधिनियम पारित किया, जो भारत में इस तरह का पहला और एकमात्र कानून था।

लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम घरेलू कामगारों के बीच विकसित हुई एकता की भावना थी। उन्हें एहसास हुआ कि नौकरियों के लिए एक-दूसरे से कम वेतन में काम करने के लिए हामी भरना उनके लिए ही हानिकारक है। नई कामगार, पुरानी कामगार से ज़्यादा वेतन मांगने लगी। इसके अलावा, कोई भी नई कामगार पिछले कामगार से सलाह लिए बिना नया काम करने को हामी नहीं भरती थी। नियोक्ता, कामगारों को नियोजित करने का प्रयास जारी रखते थे, लेकिन संगठित घरेलू कामगारों के बीच एकता ने इन युक्तियों को हरा दिया था।

वो सभी चाय के समय पर हो रही इस असामान्य बातचीत पर विचार करते हुए कुछ देर के लिए चुप हो गए। कुछ समय बाद कविता अपनी नानी और मां की तरफ़ मुस्कुराते हुए बोली-

'मैं भी संगठन में शामिल होऊंगी और कामगारों के हक़ो के लिए लड़ूंगी।'

औरतों को लीडरशिप की भूमिका में आना होगा

राजस्थान महिला कामगार यूनियन की संस्थापक मेवा भारती से बातचीत

अगर हम ई-श्रम पोर्टल के आंकड़ों को देखें तो हमारे देश में घरेलू कामगारों की कुल संख्या लगभग तीन से साढ़े तीन करोड़ होगी या उससे भी ज़्यादा। कृषि और निर्माण क्षेत्र के बाद यह तीसरा ऐसा क्षेत्र है जहां महिला कामगारों की संख्या सबसे ज़्यादा है। यह क्षेत्र असंगठित क्षेत्र के अंतर्गत आता है, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम और दूसरे श्रम कानून घरेलू कामगारों पर लागू नहीं होते हैं। घरेलू कामगारों के अधिकारों की रक्षा के लिए कोई कानूनी मानदंड नहीं है।

ना ही इन्हें किसी तरह की सामाजिक सुरक्षा के हक़ हासिल हैं। ज़्यादातर घरेलू कामगार आदिवासी या दलित हैं, उनमें से ज़्यादातर प्रवासी कामगार हैं। घरेलू कामगारों को कामगार की अपनी पहचान, न्यूनतम वेतन, सामाजिक सुरक्षा, स्वास्थ्य सुविधाएं, भेद-भाव मुक्त व सुरक्षित काम की जगह, के लिए लगातार संघर्ष करना पड़ रहा है। घरेलू कामगारों के अधिकारों को कानून के दायरे में लाने के लिए, इनके अधिकारों पर काम करने वाली संस्थाओं व यूनियनों द्वारा लगातार प्रयास किया जा रहा है। राजस्थान में 'राजस्थान

महिला कामगार यूनियन' महिला कामगारों को संगठित करने, उनके अधिकारों के लिए आवाज़ उठाने, उन्हें उनका हक़ दिलाने वाले संगठनों में अग्रिम पंक्ति में है। आइए राजस्थान महिला कामगार यूनियन की संस्थापक व कार्यकर्ता मेवा भारती से घरेलू कामगारों के आंदोलन के बारे में और जानकारी लेते हैं-

सवालः मेवा दी! आपसे पहला सवाल है कि घरेलू कामगार बहनों के आंदोलन की राजस्थान में कैसे शुरूआत हुई?

मेवा भारतीः सबसे पहले तो मैं जागोरी की टीम को धन्यवाद देना चाहूँगी कि आज हम लोग इस प्लेटफ़ार्म पर बात कर रहे हैं और ये समझा कि हम काम कर रहे हैं एक एक्टिविस्ट के रूप में! ये अच्छी बात है कि यह इंटरव्यू और भी लोगों के बीच में जाएगा तो उसके लिए मैं बहुत-बहुत धन्यवाद देती हूँ। मैं आपके सवाल पर आती हूँ-मैं थोड़ा सा पहले राजस्थान से शुरू करती हूँ। जब राजस्थान में ये घरेलू कामगारों का काम शुरू हुआ तो ये 2006 की बात है। तब मैं फ़र्स्ट टाइम फ़ैलो थी जागोरी की। उस टाइम जागोरी का एक फ़ैलोशिप प्रोग्राम चलता था। कल्याणी दीदी वो जागोरी की डायरेक्टर थीं। तो राजस्थान में उनका काफ़ी आना-जाना होता था और मैं इस काम में जुटी हुई थी। महिला एक्टिविस्ट के रूप में मेरा पूरा समय राजस्थान में बीता है। तो मैं काफ़ी आंदोलनों में सक्रिय रहती थी, उस समय यहां पर जो भी केस हो रहे थे-भंवरी का, उस टाइम काफ़ी केस चल रहा था यहाँ पर, राजस्थान विश्वविद्यालय के जे. सी. बोस हॉस्टल में एक लड़की के साथ गैंग रेप हुआ-उसका केस था, ऐसा ही एक केस बीन मॉल में हुआ, तो ऐसे काफ़ी सारे केस पॉपुलर थे और उसमें हम लोग रोडों के ऊपर रहते थे-धरना, प्रदर्शन, ये सब चीज़ें चलती थीं, तो उस दौरान मेरी जानकारी हुई थी उनसे। उस समय एक लड़की का मेरे पास केस आया था और वो पश्चिम बंगाल की लड़की थी। वो लड़की प्लेसमेंट एजेंसी के माध्यम से आयी थी और करीब डेढ़ साल के बाद उस लड़की को पता लगा कि वो जयपुर में है। वो जिस घर में 24 घंटे रह रही थी, उसके साथ रेप हुआ और उसके ओनर ने रेप किया। वो लड़की मात्र 14 साल की थी। तो उसकी मौसी को पता लगा कि उसकी बेटी उस घर में काम कर रही है, उसने लड़की से मिलने की कोशिश की, पर उसे मिलने नहीं दिया जा रहा था। वह चार-पांच महीने से उससे मिलने की कोशिश कर रही थी।.... हम एक मीटिंग कर रहे थे बस्ती में, तो वो हमारे पास आई-'आप महिलाओं के बीच काम करते हो तो हमारा ऐसा-ऐसा मामला है.... तो हमने कहा कि हम सीधा तो नहीं जा सकते किसी के घर में.... हमारे पास कोई कानूनी अधिकार नहीं है।... आप लड़की को निकाल के ले आओ! क्या समस्या है, इस पर फिर हम बात करेंगे। उस टाइम हमको इतनी ही जानकारी थी। तो इस काम को करते-करते मौसी को 15 दिन लग गए। लड़की को निकाल के वो लेकर आई। तब वह लड़की 7 माह की प्रेग्नेंट थी।... वो जो लड़की आई.... उसके बाद जो हंगामा हुआ... इसको बिलकुल शॉर्ट में बता रही हूँ! हम लोगों ने ऑफ़िस में मीटिंग की, लड़की से बात की, बैठाया तो लड़की ने बताया मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे वो आदमी जेल में चाहिए-जिसने मेरा रेप किया है।.... और वो घटना मेरे लिए पहली घटना थी कि घर में कोई लड़की काम करने जा रही है और उसके साथ इस तरह का अत्याचार हो रहा है.... और वो भी इतना बड़ा है.... हम कुछ कर ही नहीं सकते उसके बारे में। तो हम लोग उसे थाने में ले गए। थाने में मना कर दिया गया कि हम रिपोर्ट नहीं लिखेंगे, ये लड़की झूठ बोल रही है।.... उस ओनर के पास एक ड्राइवर था। बहुत यंग लड़का था २२ -२३ साल का, उस पर इल्ज़ाम लगाने लगे.... उसने कहा कि मैंने नहीं किया लड़की के साथ रेप। लड़की भी बार-बार कह रही थी कि ओनर ने किया.... पर कोई सुनने को राज़ी ही

नहीं।.... तो हमको तीन दिन लगे एफ़.आई.आर. कराने में और.... हम लोगों ने लड़की को एक शेल्टर होम में रुकवा दिया। यहाँ जो चल रहा था वो रूबा का एक सेंटर था, तो वो लड़की भी सुरक्षित हो गयी।.... हमारे पास काफ़ी दबाव आये और पांच लाख का ऑफ़र आया कि लड़की को 5 लाख रुपये देकर रफ़ा-दफ़ा करो, उसकी ज़िन्दगी बन जाएगी,... बच्चा किसी को भी दे दो, तो ये सब चीजें चलीं और केस दर्ज हुआ। फिर वो आदमी जेल में गया और लड़की को एक मुआवज़े के बतौर राजस्थान सरकार की तरफ़ से 2500 रुपये मिले। हमने लड़की के नाम पर एक अकाउंट खुलवाया, और उसमें पैसा डाल दिया।...... मैं लड़की से काफ़ी मिलती थी।... मैं उसको खाना देने, दूध देने जाती थी। मुझे काफ़ी जिज्ञासा थी-पूछूं कि लड़की के साथ ऐसे कैसे हुआ... और ये इतनी दूर काम पर क्यों आते हैं..... कौन लाता है इनको, किसने रखवाया काम पर, किसने बताया कि ये काम इस तरह का होता है? तो उस लड़की ने मुझे सब कुछ बताया... उसने ये भी बताया कि वे गांव से शहर किस तरीके से लाए जाते हैं। उसने ये भी बताया कि मेरी सहेली हैं, उनको भी एक बार खोज लो और हम तीनों आये थे साथ में यहाँ जयपुर में। उन दो का मुझे नहीं पता-कहाँ गयीं, तो हम कुछ कर नहीं पाए उसमें। इस लड़की की डिलीवरी कराई और शिशु गृह में उसका बच्चा दिया। फिर वो अपने गांव चली गयी। इसके बाद मुझे शुरुआत से बताया कि ये कैसा काम है, किस तरीके से ये महिलाएं काम करती हैं, कैसे अपने काम की रेट तय करती हैं, कैसे काम मांगती हैं, तो मैंने जब बस्तियों में जाकर बातें करना शुरू किया महिलाओं से तो माहिलाएं कहती हैं-मैं तो काम ही नहीं करने जाती हूँ, आपको किसने बोला कि मैं काम करने जाती हूँ? महिलाओं ने इस काम को अच्छा नहीं बताया। पता चला कि पश्चिम बंगाल से बड़ी संख्या में महिलाएं आती हैं। जयपुर में ज़्यादातर घरेलू कामगार महिलाएं पश्चिम बंगाल से हैं। तो मेरे को ये बात पता थी कि ये लोग कितने बजे आने वाली हैं। दोपहर के टाइम में आती थीं, तो मैं उसके आस-पास के टाइम में आती थी। मैं खड़ी हो जाती, उनसे बातें करती, तो सारी समस्या बंगाली में बोलती थीं और मुझे बंगाली नहीं आती थी। तो वो टूटी-फूटी भाषा में हम हिंदी में बात करते। तो मैंने उनसे धीरे-धीरे दोस्ती करना शुरू किया, तो मैंने पूछा ये बगल वाली महिला वो आंटी के यहाँ काम करती हैं, तो मुझे और थोड़ा पता लगा कि ये महिलाएं भी काम पे जाती हैं, तो मैं उनसे दूसरे तरीके से बात करती राजस्थानी महिलाओं से। वो बोली स्कूल में जाती हूँ तो पूछा स्कूल में क्या काम करती हो, हॉस्पिटल में जाती हूँ तो हॉस्पिटल में क्या करती हो? तो इस तरीके से उनसे दोस्ती कर ली और दोस्ती करके फिर मैंने सच जानना शुरू किया तो मेरे पास थोड़ी जानकारियां आ गयी थीं। और उसके बाद मैंने एक सर्वे शुरू किया 500 महिलाओं के साथ। हमने टारगेट बनाये बस्तियों में। एक साल लगा और वो सर्वे करने से काफ़ी चीज़ें सामने आईं। पर कई बार हमें डर भी लगता था कि पुलिस में हमारी शिकायत दे देंगी, क्योंकि काफ़ी डिटेल में ये सर्वे था। फ़ॉर्म भरना पड़ता था, उनकी पूरी डिटेल आती, उनके काम के बारे में सब कुछ आता था उसके अंदर। तो भाग जाती थी बीच में ही छोड़ कर के, फिर दूसरे दिन जाती थी उनके पास मैं फ़ॉर्म भरने के लिए। ये करते-करते काफ़ी स्ट्रगल हुआ और मेरी 20-25 महिलाओं से काफ़ी अच्छी दोस्ती हो गई। चाय पीना, खाना-खाना उनके घर में तो इस तरह से हम करने लगे, बहुत सारी व्यक्तिगत बातें भी शुरू हो गयी थीं। वो कैसे इस काम में आयीं, क्यों आयीं- कहानी के रूप में ये जानना हमने शुरू कर दिया। जब हमारे काम की रिपोर्ट बन गयी तो उस रिपोर्ट को हमने राजस्थान सरकार के लेबर सेक्रेटरी ललित पंवार जी के सामने पेश किया। उस समय जागोरी कार्यकर्ता और वर्कर भी साथ थे।

इस रिपोर्ट में निकल के आया कि जो हमारे प्रदेश में हो रहा है महिलाओं के साथ वो अधिकारी मानने को तैयार नहीं थे. उन्होंने कहा कि ये रिपोर्ट झूठी है। लेबर सेक्रेटरी को एहसास हुआ कि हम जो बोल रहे हैं वो सही बोल रहे हैं, लेकिन अधिकारी नहीं माने, बोले कि किसी को बदनाम करने के लिए कोई भी झूठ बोल देगा। तो हमने बोला कि रिपोर्ट पूरी होने दीजिये और वो जो महिलाएं थीं 20-25 जो खुद डोमेस्टिक वर्कर्स थीं, जिनका ये सर्वे हुआ, उन्हीं ने कहा हमको भी मौका दिया जाये बोलने का और हम बताएँगे कि ये जो रिपोर्ट है ये हमसे ही बनायी गयी है। और आप यहाँ काम करते हो-आपके परिवार के लोग पीछे से क्या काम करते हैं, आपको पता है क्या; आप कभी ऑफ़िस टाइम में आकर देखिये कि किस हालात में हम काम करते हैं, तो आपको पता लगेगा। और उसके बाद लंच के बाद उन्होंने मीटिंग रखी, जो डोमेस्टिक वर्कर्स के ऊपर ही थी और उनको कोई भी नहीं मिल रहा था, जिसमें एन.जी.ओ. के लोग भी थे, एक्टिविस्ट टाइप के लोग थे, जिन्होंने कभी काम नहीं किया था उस मुद्दे पर। उस मीटिंग में लेबर सेक्रेटरी ने भी बोला कि इन सब महिलाओं को निवेदन करो रुकने के लिए और ये भी इस मीटिंग में शामिल हों, ये आप ही के मुद्दे को लेकर हैं। खाना खाने के दौरान लेबर सेक्रेटरी हमारे साथ बैठे, उन्होंने बातचीत किया और हम भी बोले कि हम भी रिपोर्ट बनाए हैं, हम भी जानकारी ले रहे हैं।'

जब स्टडी की रिपोर्ट बन गयी, तब मेरी जागोरी से भी बात हुई और मैंने पूछा कि हम कैसे आगे बढ़ें? क्या यूनियन बनाना चाहिए, संगठन बनाये आदि। ऐसे कई सवाल मेरे मन में थे। जागोरी ने मुझे कहा-'मेवा जी आप को ही इन सवालों के जवाब ढूंढने होंगे और आप ही पता लगा पाओगे।' मैंने काफ़ी यूनियन और संगठन चलाने वालों से बात की, बहनों के साथ भी संवाद किया और पूछा कि हमें क्या करना चाहिए? आख़िर में हमने मिलकर ये तय किया कि हमको यूनियन बनाना चाहिए। घरेलू कामगार महिलाओं ने कहा कि ऐसा संगठन बनाना है, जहाँ से हम अपनी आवाज़ आगे तक ले जा पायें, हमें बोलने से कोई ना रोके। शुरुआत में हमने समुदायो में बात की और कमिटियां बनाईं। शुरुआत में हमने सिर्फ़ 4 मुद्दों पर फ़ोकस किया- वेतन, काम की जगह में छुआछूत, किस जगह पर बैठकर हम मीटिंग करें और महीने में 4 दिन की छुट्टी का अधिकार। हमने ये तय किया कि सार्वजनिक पार्क हमारे हैं और हम इन्हीं पार्कों में बैठकर मीटिंग करेंगे। अन्य यूनियन कैसे काम करती हैं, उस पर भी जानकारी ली। महाराष्ट्र में जो पहला घरेलू कामगार यूनियन बना-वो कैसे बनाया गया, महिलाओं ने कैसे उसे खड़ा किया-ये समझने के लिए हमने एक्सपोज़र विज़िट किया। और भी अलग- अलग यूनियनों का भी एक्सपोज़र विज़िट किया ।

एक साल के बाद हमने राजस्थान सरकार के सामने घरेलू कामगारों के लिए न्यूनतम मजदूरी पर बात उठाई और कहा कि सरकार एक नोटिफ़िकेशन ऑर्डर बनाये इसके लिए। 2008 में राजस्थान सरकार ने नोटिफ़िकेशन ऑर्डर बनाया। हमारा यूनियन भी 2 अप्रैल 2008 में रजिस्टर हुआ। हम राजस्थान का पहला रजिस्टर्ड महिला यूनियन हैं। इस काम में हमें लेबर डिपार्टमेंट ने काफ़ी मदद की, यूनियन का संविधान बनाने में भी।

यूनियन बनने के बाद महिलाओं ने एक सिलसला शुरू किया, जहाँ पर उन लोगों ने नियोक्ता से छुट्टी लेना शुरू किया। जब ऐसा किया तो काफ़ी घरेलू कामगारों को आराम से 2 से 3 दिन की छुट्टी मिलने लगी महीने में। उन्होंने कहा कि हमने कभी नहीं सोचा था कि इस काम में छुट्टी मिल सकती है। यूनियन एक ऐसा मंच है, जिससे

महिलाओं को अपनी बात रखने के लिए जगह मिलती है और उनको मजबूती मिलती है। फिर उमने सबकी सहमति से एक यूनियन आई-कार्ड बनाया। इसे बनाने के लिए 10 रुपए का मेंबरशिप शुल्क लिया यूनियन के हर सदस्य से। महिलाओं ने इस आई-कार्ड का काफ़ी इस्तेमाल किया-कभी वेतन बढ़वाने के लिए, तो कभी छुट्टी के लिए। काफ़ी ऐसे मामले हुए थे, जहाँ पर नियोक्ता औरतों पर चोरी का झूठा आरोप लगा देता था। ऐसे टाइम में यूनियन की महिलाएं खुद इकट्ठा हो जाती थीं और पुलिस के पास जाकर फंसी हुई घरेलू कामगार को थाने से निकलवा लेती थीं। हमने यूनियन के सदस्यों की क्षमता वर्धन के लिए ट्रेनिंग भी करवाई हैं कि क्या करना चाहिए-जब नियुक्त, झूठा आरोप लगाए। हमने कहा कि जब भी ऐसा कुछ हो तो सीधे पुलिस के पास जाओ। पुलिस थाने में जाकर देखो कि क्या केस रजिस्टर हुआ है। अक्सर ये देखा गया है कि पुलिस बिना किसी लिखित शिकायत के घरेलू कामगार को नियोक्ता के कहने पर थाने में रोक कर रखते हैं, कभी-कभी तो 5-6 घंटे तक दबाव बनाने के लिए कि अगर केस/शिकायत रजिस्टर नहीं है, तो साफ़ तौर पर पुलिस को बोल दो कि आपने गैरकानूनी तौर पर महिला को थाने में रखा है।.... हमने महिलाओं को कानूनी तौर पर जागरूक किया। सरकार में अपनी यूनियन की एक पहचान को स्थापित किया। काफ़ी घरेलू कामगार को रेस्क्यु किया। इन सारी बातों से महिलाओं का विश्वास यूनियन के प्रति बना और ये यकीन हुआ कि ऐसे कानूनी तंत्र हैं जिनका वो अपनी रक्षा के लिए इस्तेमाल कर सकती हैं। सरकार के स्तर पर घरेलू कामगार के मुद्दों को उठाया, बजट सेशन के पहले सरकार को घरेलू कामगार के लिए बजट आबंटन करने के बारे में बात की।... 2010 में सरकार से पैरवी की कि वो स्टेट लेवल पर घरेलू कामगारों के लिए एक कानून बनाये। पूरे 1 साल हमने इस पर काम किया। और सरकार हमारी बात सुन भी रही थी कि तभी चुनाव हो गया और सरकार बदल गयी। नई सरकार ने इस मुद्दे से किनारा कर लिया।... हमने कई बार घरेलू कामगारों के लिए अलग कानून की मांग की है और आज भी वही मांग कर रहे हैं। हमारी मासिक बैठक का ढाँचा काफ़ी मजबूत है। हम पहले से ही दिन और समय तय करके बता देते हैं। हमने शुरुआत 2 मीटिंग से शुरू की थी और आज हमारी 52 मासिक मीटिंग्स होती हैं जयपुर और अजमेर में। हम दीवाली से 1 महीने पहले अभियान चलाते हैं घरेलू कामगार के बोनस के अधिकार को लेकर।

सवालः क्या उपलब्धियां रही हैं?

मेवा भारतीः काफ़ी कुछ बदला है, आज घरेलू कामगार को पहले की तुलना में सम्मान और गरिमा पूर्वक देखा जाता है। आज भी सम्मान पाने की लड़ाई जारी है, मगर चीज़ें बदली भी हैं। अभी काफ़ी घरेलू कामगार अपनी काम की जगह में शौचालयों का इस्तेमाल कर सकते हैं, अधिकतर नियोक्ता के घर में अलग चाय का बर्तन नहीं दिया जाता है। पहले घरेलू कामगारों को अशिक्षित, अकुशल मानते थे, मगर अब यूनियन के काम की वजह से औरतों को इज़्ज़त से देखा जाता है। राजस्थान महिला कामगार संघ का गठन एक बड़ी उपलब्धि है। हमारी और हमारी बहनों की एक पहचान है सरकार में। यूनियन से चुनी गई 200 महिलाओं की लीडरशिप तैयार की है, जो अपनी क्षमता से यूनियन के काफ़ी काम को संभाल लेती हैं।

हमने घरेलू कामगारों के खिलाफ़ कार्यस्थल पर हिंसा के कई मामलों को डील किया है और यह सुनिश्चित किया है कि उन्हें न्याय मिले। देश के स्तर पर होने वाले हर कैंपेन का हिस्सा रही है हमारी यूनियन।

सवालः आपके सामने क्या चुनौतियाँ थीं?

मेवा भारतीः समुदाय में हर तरीके के लोग होते हैं। कोई आप को सपोर्ट करते हैं और कई ऐसे होते हैं जो कहते हैं कि हमें तो कोई दिक़्क़त नहीं है अपने नियुक्ता से, वो कहते हैं कि उनसे काफ़ी अच्छे से बर्ताव करते हैं और फिर वही लोग कुछ दिन के बाद यूनियन से संपर्क करते हैं और बोलते हैं कि उनके ऊपर चोरी का इल्ज़ाम लगा है।

जो वर्कर्स हैं वो असंगठित क्षेत्र से हैं हम अगर आज बस्ती में कमिटी बनाते हैं तो हो सकता हैं की 2 महीने के बाद कोई भी उसे कमिटी का व्यक्ति मिले ना, क्योंकि ज़्यादातर लोग अपने रहने की जगह और काम की जगह बदलते रहते हैं। हमें फिर से नई कमिटी का गठन करना पड़ता है और फिर से सारी प्रक्रिया समझानी पड़ती है। समिति की प्रकृति अस्थिर रहती है।

सरकार के तरफ़ से कोई नियम, कानून नहीं है, इसलिए हमारे पास कोई आधार नहीं है, जिसके तहत हम आसानी से अपनी आवाज़ उठा सकें। आज तक घरेलू कामगार कानून इसलिए नहीं बना क्योंकि ब्यूरोक्रेसी नहीं चाहती कि ऐसा हो। उनके हिसाब से घरेलू काम, काम की श्रेणी में नहीं आता। आमतौर पर महिलाएं इस काम को फ़ुल टाइम नहीं करतीं, तो सरकार सोचती है कि 2 घंटे ही तो काम करते हैं ये लोग, 8 घंटे थोड़े ही काम करते हैं। ऊपर से औरतों को कुछ नहीं समझते। और घर का काम तो पारंपरिक रूप से महिलाओं पर ही डाला जाता है। जो लोग ब्यूरोक्रेसी में बैठ हैं, उनके घरों में भी घरेलू कामगार काम करती हैं। उनका डर यह है कि अगर कोई नियम कानून आ जायेगा तो फिर कल कभी किसी डोमेस्टिक वर्कर के साथ अगर हिंसा हो जाए, या टाइम पर वेतन नहीं दिया, या वेतन रोक लिया, या छुट्टी नहीं दे रहे तो कहीं डोमेस्टिक वर्कर कानून का सहारा ना ले और उनके घरों में पुलिस ना आ जाये। ऐसा एक सेंट्रल लेवल के मिनिस्टर ने कहा था। वो सोचते हैं कि छोटा-मोटा वेल्फ़ेयर दे दो इनको, मगर कानून नहीं बनाना। सरकार हमसे ज्ञापन ले लेते हैं आराम से। हम को हौसला भी दिलाते हैं ये कह कर, मगर फिर कुछ नहीं करते।

भारत सरकार ने अभी तक भी आई.एल.ओ. सी.189 - जो कि डोमेस्टिक वर्कर्स के अधिकारों को सुनश्चित करने की बात करता है, उस को रेटिफ़ाई नहीं किया है। अभी राष्ट्रीय स्तर पर एक मुहिम चल रही है कि हम संसद में डोमेस्टिक वर्कर्स की बात को उठाएंगे। आज तक हमारे मुद्दे को विधान सभा के स्तर पर या सेंट्रल लेवल में उठाया नहीं गया। बड़े पैमाने पर समाज अभी भी घरेलू कामगारों के आर्थिक योगदान को मान्यता नहीं देता है।

2008 में असंगठित क्षेत्र मजदूर-सामाजिक सुरक्षा अधिनियम आया और इसका फ़ोकस डोमेस्टिक वर्कर्स को पंजीकृत करना और सामाजिक सुरक्षा से जोड़ने पर केंद्रित था। राजस्थान में जो पहला सामाजिक सुरक्षा बोर्ड बना था, उसमें भी यूनियन की महिलाएं शामिल थीं। सिर्फ़ 3 मीटिंग हुई थीं बोर्ड के तहत और उसके बाद बोर्ड को रिन्यु नहीं किया और उसे कानून को एकदम यूज़लेस बना दिया।

सवालः आप यूनियन में सभी जाति धर्म के लोगों की भागीदारी हो इसके लिए क्या करती हैं ? क्या यूनियन में जाति, धर्म, क्षेत्र आदि को लेकर झगड़े उभरते हैं?

मेवा भारतीः जी हाँ! जाति, धर्म और क्षेत्र को लेकर महिलाओं के बीच मनमुटाव होता है। जयपुर में डोमेस्टिक

वर्कर्स या तो पश्चिम बंगाल की होती हैं या फिर राजस्थान से और इन दोनों के बीच में दूरियां हैं। हम अलग-अलग जाति, धर्म और क्षेत्र के वर्कर्स को इकठ्ठा बिठा कर पूछते हैं कि आप किस जाति, धर्म और क्षेत्र से आये हो, उन पहचानों से क्या आप को अपने काम की जगह में कुछ खास लाभ मिलता है? जैसे कि ज़्यादा वेतन, ज़्यादा छुट्टियां, या फिर अगर निजी कोई दिक़्क़त होती है तो आप का क्या कोई खास ध्यान रखा जाता है? इस बात पर वर्कर्स कहते हैं-नहीं। हम उनकी बातों को समझते हैं। हम फिर पूछते हैं कि क्या आप जिस राशन की दुकान से सामान लेते हो, पानी और बिजली सप्लाई वाले से क्या उस का जाति और धर्म पूछते हो? जब हम एक जैसा काम करते हैं, हमारे अनुभव भी एक जैसे हैं तो फिर हमको ऐसी बातों पर आपस में लड़ाई नहीं करनी चाहिए।

हमने ये सुनिश्चित किया कि हमारी जो 200 लीडर्स का कैडर है- वो अलग जाति, धर्म और क्षेत्र से आती हैं। हम ऐसे ही भेदभाव वाले मुद्दों पर लगातार बातचीत करते रहते हैं यूनियन में। हमने ये देखा है कि जब भी किसी डोमेस्टिक वर्कर को परेशानी होती है, तो फिर औरतें एकजुट हो जाती हैं।

सवालः आपको आंदोलन से जुड़ने की प्रेरणा कहाँ से मिली?

मेवा भारतीः मैं जब छोटी थी तब से मुझे लगता था कि महिलाओं के साथ कुछ अलग सा बर्ताव होता है, मगर पता नहीं था ऐसा क्यों होता है। मेरी शादी छोटी उम्र में हो गयी थी। मैं 12वी में पढ़ती थी तब। मेरे जीवन साथी उस समय के छात्र आंदोलन से जुड़े हुए थे। मैं उनके साथ जाती थी बैठकों में। मगर मेरी रुचि छात्र आंदोलन में नहीं थी, मुझे महिलाओं के मुद्दों से जुड़ना था। मेरे पति ने मुझे फिर प्रोत्साहित किया कि जाओ समाज में और देखो और सीखो कि महिलाओं की क्या स्थिति है। कविता जी और अरुणा रॉय जी मेरी रोल मॉडल हैं। अपना जीवन सारा आंदोलन में समर्पित कर दिया। मैंने साथ में ऐसे भी एक्टिविस्ट देखे जो कि काम भी कर रहे हैं, वो अपना परिवार भी देख रहे हैं और आंदोलन से भी सक्रिय रूप से जुड़े हुए हैं। इन सबसे मुझे बल मिला आंदोलन का हिस्सा बनने में। उस समय एक डोमेस्टिक वर्कर का निर्मम हिंसा का केस काफ़ी चर्चा में था-14 साल की बच्ची पश्चिम बंगाल से थी, उसका मुंहबोला चाचा काम दिलाने के लिए लेकर आया था और उसके साथ काफ़ी वायलेंस हुआ था। इस केस ने मुझे डोमेस्टिक वर्कर्स के मुद्दे की तरफ़ मोड़ दिया। और जैसे-जैसे में और डोमेस्टिक वर्कर्स के साथ बात करती तो उनकी दिक़्क़तों के बारे में पता चलता, कि जिन घरों की वह साफ़-सफ़ाई, खाना बनाना और बर्तनों को मांझने का काम करती थीं, वहाँ पर उनको हक तक नहीं था कि वो टॉयलेट का भी इस्तेमाल कर सकें, जिन बर्तनों को उन्होंने साफ़ किया है, उनमें वो खुद पानी नहीं पी सकतीं, कप में चाय नहीं पी सकतीं और बर्तन में खाना नहीं खा सकतीं। मैंने काफ़ी करीब से डोमेस्टिक वर्कर्स की ज़िन्दगी को देखा कि वो सुबह 5 बजे से रात के 11 बजे तक नॉन-स्टॉप काम करती हैं। और इसके बाद यूनियन के कामों के लिए भी समय निकालती हैं, इससे मुझे प्रेरणा मिलती है। जागोरी ने भी मुझे समय-समय पर सपोर्ट किया और मुझे मोटिवेट किया- कभी ट्रेनिंग और कंसल्टेशन्स में बुला कर और कभी इसका ध्यान रखकर कि यूनियन के पास पैसों की कमी होती है, तो हमारा ट्रैवल का खर्च उठा लेती थी।

सवालः क्या इतने साल से आंदोलन में काम करने से कभी थकावट हुई है कभी?

मेवा भारतीः हाँ, होता कभी-कभी जब लगातार डोमेस्टिक वर्कर्स के केस आते हैं और मुझे लगता है कि "अरे

इन केसों का तो कोई अंत नहीं होता है"। मेरा अपना सर्कल है, दोस्त हैं और जीवन साथी है, जिनके साथ मैं आंदोलन से जुड़े मुद्दों पर चर्चा करती रहती हूँ। इससे मुझे मदद मिलती है। मेरे बच्चों ने भी मुझे सपोर्ट किया है, वो समझते हैं मेरे काम के नेचर को और उसके महत्व को। इसके अलावा हमने एक टीम डेवलप की है, लीडरशिप डेवलप की है। और ये टीम अब काफ़ी काम खुद के स्तर पर कर लेती है। इसलिए मैं अभी अलग भूमिका को निभाती हूँ। इस वजह से भी थकावट को हैंडल कर पाती हूँ।

सवालः आप डोमेस्टिक वर्कर्स को कैसे प्रोत्साहित करते हो?

मेवा भारतीः मैं औरतों को याद दिलाती हूँ कि कई आंदोलनों से हमें आज का ये समाज मिला है। अगर आज़ादी का आंदोलन नहीं होता, तो आज हम एक स्वतंत्र जीवन नहीं जीते। आज़ादी के वजह से हमारे पास नागरिक होने के नाते कुछ अधिकार मिले हैं, खुशहाल और स्वतंत्र जीवन जीने के लिए। अगर नारीवादी आंदोलन नहीं होता तो औरतों को आज ये बुनियादी बराबरी के अधिकार नहीं मिलते। मैं ये कहती हूँ कि हमें ये बात सोचनी चाहिए कि हम अपनी अगली पीढ़ी को क्या दे रहे हैं। यूनियन के साथ शुरुआत में जुड़ी कई औरतें आज बुज़ुर्ग हो गयी हैं और काम नहीं करतीं और अपने गाँव वापस लौट गई हैं, वो आज भी हमसे संपर्क में हैं।

सवालः क्या आप को लगता है कि हमें आज महिला नेतृत्व और आंदोलनों की ज़रूरत है?

मेवा भारतीः जैसे ही यूनियन शब्द को सुनते हैं तो आज भी लोगों के मन में पुरुषों की तस्वीर आती है। महिलाओं को ये साबित करने में बड़ी ताकत लगती है कि उनका भी यूनियन बन सकता है। महिला आंदोलनों और लीडरशिप की आज सख़्त ज़रूरत है। हमारे समाज में व्यक्तिगत और सामुदायिक स्तर पर महिलाओं के मुद्दों को प्राथमिकता नहीं देते हैं। चाहे कोई यूनियन हो या राजनैतिक दल हो, कहीं ना कहीं जा कर महिलाओं के मुद्दों पर एक लाइन खींच देते हैं। महिलाओं के पास कोई राय देने का प्लेटफ़ॉर्म और कोई राइट्स नहीं होते। औरतों को अपनी बात उठाने के लिए लीडरशिप की भूमिका में आना होगा। अक्सर जैसे ही औरतें अपने हक़ की बात करना शुरू करती हैं तो लोग उनकी बोली बंद करने के लिए कहते हैं कि अरे ये तो उस वाद से है। बस हमें इन चक्करों में नहीं पड़ना चाहिए और बिना डरे अपनी लड़ाई लड़नी चाहिए। जहाँ पर विमेन लीडरशिप होती है, वहाँ पर बदलाव भी आएगा। महिलाएं ताकतवर लीडरशिप निभाती हैं। मगर उनको काफ़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है शुरुआत में, खासकर परिवार के स्तर पर। और कई बार इतनी रोकथाम की वजह से वो लीडर बनने के सफ़र को पूरा नहीं कर पाती हैं।

सवालः आप क्या सलाह देना चाहेंगी आज के उभरते हुए कार्यकर्ताओं को?

मेवा भारतीः मुझे लगता है कि आज के समय कम ही लोग एक्टिविस्ट या कार्यकर्ता बन रहे हैं। मैं चाहूंगी कि और लोग इस ज़िन्दगी को चुनें। मैं कहना चाहती हूँ नये एक्टिविस्टों से कि वो बिना डरे हर चुनौतियों का सामना करें। आज के समय में अपना विरोध प्रदर्शन का स्पेस कम हो गया है, इसलिए नये तरीकों को इस्तेमाल करें। और यह भी सुनिश्चित करें कि आप अपने परिवार और परिजनों की सोच को भी विकसित और व्यापक बना पाएं।।

शबनम की आपा

सोलापुर बीड़ी कामगार आंदोलन

शबनम ने बिरयानी को दम लगाने के लिए चूल्हे पर चढ़ा दिया। उसकी नज़र बार-बार घड़ी की ओर जा रही थी। आज तो वो जल्दी भी उठ गई थी। रिश्तेदारों का घर में आना भी त्यौहार जैसा हो जाता है। घर का माहौल तो खुशनुमा हो जाता है, पर साथ ही काम भी चार गुना बढ़ जाता है। शबनम का ये पूरा हफ़्ता तैयारी में ही निकल गया, घर की सफ़ाई, मेहमानों के सोने का इंतज़ाम, बच्चों को मेहमान के साथ उठने-बैठने का सलीका सिखाना और भी बहुत कुछ। साथ ही शबनम को 50 कुर्ते में नग लगाने का आर्डर भी मेहमानों के आने से पहले पूरा करके देना था। शबनम ने कुर्ते में कढ़ाई और नग लगाने का काम भी दिन-रात करके पूरा कर लिया। फिर तैयार कपड़ों को पैक करके बक्से में रख दिया; ताकि गलती से उन पर कुछ गिर ना जाए। एक भी कपड़े का

पीस खराब होने पर कांट्रेक्टर पूरे पैसे काट लेता है। शबनम ने अपनी पड़ोसन मालती को भी बोल दिया कि वो जब कांट्रेक्टर के पास जाएगी तो शबनम के कपड़ों के बंडल को भी कांट्रेक्टर तक पहुंचा दे।

मेहमान आख़िरकार आ ही गये। उन्हें मेहमान कहना सही नहीं होगा..... सुल्ताना आपा हैं वो। कितने साल बाद उन्हें मौका मिला था-अपनी छोटी बहन के साथ समय बिताने का। सो... वो अपने बच्चों के साथ चली आईं शबनम के पास। सुल्ताना आपा शबनम से दस साल बड़ी हैं, और पेशे से बीड़ी कामगार हैं। शादी के बाद वह अपने शौहर के साथ महाराष्ट्र के सोलापुर शहर में रहती हैं।

शबनम के चेहरे पर खुशी साफ़ झलक रही थी। दोनों बहनें जब गले लगीं, तो आंखें डबडबा गईं।...... बातों का सिलसिला तो जैसे ख़त्म ही नहीं हो रहा था।

'आपा! आपके हाथों की सेंवइयों का स्वाद तो आज भी मुंह मीठा कर जाता है। सच में! इतनी सेंवइयां खाईं.... लेकिन आपकी तो गज़ब ही है....' आपा शबनम की बात सुनकर मुस्कुराते हुए बोलीं 'तुम्हारी बिरयानी ने भी अम्मा की याद दिला दी है। याद है... हम कैसे अम्मा की बिरयानी का पूरे साल इंतज़ार करते थे... कब ईद आयेगी, नए कपड़े और बिरयानी।'

शबनम और आपा अपने बचपन के किस्से कहानियों में कहीं डूबे हुए थे, तभी शबनम का मोबाइल बजा। ज्योति दीदी का कॉल है। एक पल के लिए मन हुआ कॉल ना उठाए। फिर लगा शायद कोई ज़रूरी बात होगी, उसने फ़ोन उठा लिया।

'सलाम ज्योति दीदी! कैसी हैं आप? आज कैसे हमारी याद आ गई?'

'मैं तो तुम्हें याद करती रहती हूँ, तभी तो जब कुछ दिन मीटिंगों में नहीं आती तो तुरंत तुमको कॉल कर लेती हूँ।.... अच्छा शबनम क्या हम आज मिल सकते हैं? तुम चाहो तो मैं अभी तुम्हारे घर आ सकती हूँ या फिर तुम ऑफ़िस आ जाओ?' ज्योति ने हल्की हंसी के साथ कहा।

'दीदी आप मेरे घर आ जाओ, आप को बढ़िया सी चाय पिलाऊंगी!' ज्योति की सहमति मिलते ही शबनम ने फ़ोन काट दिया।

'कौन हैं ये ज्योति दीदी!?'

'ज्योति दीदी अपने कम्युनिटी में काम करने वाले संगठन से जुडी हुई हैं। जो कि महिलाओं के मुद्दों पर काम करती हैं...... साथ ही हम जैसे कामगारों के अधिकारों पर भी बात करती हैं। मुझे जब भी कोई स्कीम वाला फ़ॉर्म भरना होता है.... या कई बार सरकारी दफ़्तर जाने की ज़रूरत होती है... या फिर औरतों के साथ किसी तरह की बदसलूकी होती है.... तो हम सीधा दीदी के पास ही जाते हैं, वो सही गाइड करती हैं कि कैसे क्या करना है। आने वाली हैं, आपसे भी मिलवाती हूं उन्हें!' यह कहते हुए शबनम चाय का पानी गैस पर चढ़ाने के लिए रसोई की ओर चली गई।

ज्योति शायद कहीं आस-पास ही थी, लगभग 15 मिनट में शबनम के घर पहुंच गई।

'शबनम। मैं आज हमारी पिछली ऑफ़िस मीटिंग की बात को आगे बढ़ाने के लिए आयी हूँ। बताओ घर खाता समूह की सदस्यता लेने और समूह मीटिंग चलाने के बारे में तुमने क्या सोचा है?' ज्योति ने चाय की चुस्की लेने के बाद कप को टेबल पर रख कर शबनम को गहरी नज़र से देखते हुए कहा।

'अरे दीदी! किस झमेले में मुझे फंसा रही हो।.... अपने समय के हिसाब से समूह के मीटिंग में आ जाया करूँगी..... अभी भी तो आती हूँ।' शबनम ने थोड़ा झिझकते हुए कहा।

'शबनम अभी तुम सामान्य जानकारी वाली मीटिंग में आती हो। ये बात मीटिंग में ही आई है..... उसमें तुम भी थीं... कि घर खाता महिलाओं का भी एक समूह होना चाहिए। जो हमारे सामने आने वाली दिक़्क़तों पर मिल कर काम कर सके। मुश्किल वक्त में एक दूसरे को सहारा देंगे और दूसरे घर खाता कामगारों के समूह और संगठनों से जुड़ कर, कामगारों के हक़ और अधिकारों के लिए सरकार के साथ सामूहिक सौदेबाजी करेंगे। अकेले चलने से तो कुछ नहीं होगा।'

ज्योति ने शबनम की हिम्मत बढ़ाने की कोशिश करते हुए कहा। ज्योति ने अपने हाथ में पकड़े हुए चाय के कप को टेबल पर रख दिया फिर बोली 'शबनम जैसा कि मैं हमेशा से कहती हूँ, 'जिनकी लड़ाई उनकी अगुवाई, जब तक आप लोग संगठित नहीं होंगे, तब तक गैरबराबरी पे टिके इस सिस्टम से लड़ना मुश्किल है। और शुरूआत में किसी को तो आगे बढ़ कर महिलाओं को जोड़ना होगा। और मुझे तुम में वो बात दिखाई देती है.... बाकी तो मैं हूँ ना तुम्हारे साथ खड़ी!'

शबनम, ज्योति दीदी की बात ध्यान से सुन रही थी। उसके मन में काफ़ी उथल-पुथल चल रही थी। 'क्या सच में कुछ बदल सकता है? क्या इतना समय देने का कोई फायदा है, समय की बरबादी नहीं है? मुश्किल भी है.. .. बुलाते रहो महिलाएं मीटिंग में आती कहां हैं, सौ बहाने होते हैं उनके पास।

'अरे! तुम कहां खो गई?' शबनम को शांत देख कर ज्योति ने पूछा।

'कहीं नहीं दीदी, मैं आपकी बातों पर ही सोच रही थी। आप मुझे 3.... 4 दिन का समय दे दीजिए। मैं नहीं चाहती कि बिना सोचे-समझे आपको 'हां' कह दूं और बाद में आपको भी निराशा हो।' शबनम ने मुस्कुराते हुए कहा।

'ठीक है, इतनी भी जल्दी नहीं है। आराम से सोचो, फिर बताना।' यह कहते हुए ज्योति जाने के लिए उठ खड़ी हुई।

इधर आपा कमरे के अंदर से ज्योति और शबनम की बातें सुन रही थीं। ज्योति के जाते ही वह कमरे से बाहर आईं और शबनम को बोलीं- 'तुम समूह से जुड़ने के लिए इतना क्यों सोच रही हो? मुझे तो लगता है कि ये तुम्हारे लिए एक अच्छा अवसर है।'

'हूं!..... पर आपा इतना समय कहां है, दूसरी बात..... इन सब से क्या फायदा है! न तो सरकार और न ही दूसरे लोग हमें कामगार के तौर पर देखते हैं.... ये तो हम घर में ही रह कर करते हैं, बस थोड़ी कमाई हो जाती है।... क्या कर लेंगे समूह बना कर। बस मन बहलाने की बात है, कुछ नहीं होता इन सबसे, बस मिल-बैठ कर अपने दिल की भड़ास निकाल लेते हैं।' शबनम ने निराशा वाले भाव में कहा।

आपा शबनम की सारी बातों को बड़े ध्यान से सुन रही थीं। फिर कुछ सोचते हुए गंभीरता से बोलीं 'मैं तुम्हारे अंदर चलने वाली बातों को समझती हूं। पर बहन! यकीन मानो चीज़ें बदलती हैं। थोड़ा वक्त लगता है.....बहुत सारी कोशिशें चाहिए होती हैं..... पर बदलता है। मैं तुम्हें सोलापुर बीड़ी कामगारों के संघर्ष और कैसे वे बदलाव ले कर आईं-इसके बारे में बताती हूं।' आपा ने बीड़ी कामगारों के संघर्ष की कहानी को जब कहना शुरू किया तो ऐसा लग रहा था जैसे वह उस समय के हर एक पल को जी कर सामने रख रही हों।

'ये किस्सा है 90 के दशक का। सोलापुर शहर की बस्तियों में बीड़ी कामगारों की स्थिति काफ़ी खराब थी। इस काम में ज़्यादातर महिला कामगार लगी हुई हैं। उनमें से कई महिलाएं ऐसी भी हैं, जिनकी अकेले की कमाई से घर-परिवार चलता है। इन महिला बीड़ी कामगारों को काफ़ी कम पैसा मिलता था। छोटी-छोटी झोंपड़ियों में किराये पर रहती थीं, और उन्हीं छोटी झोंपड़ियों में वो बीड़ी बनाने का काम करती थीं। इन बस्तियों की हालत काफ़ी खराब थी। थोड़ी सी बारिश पर ही छतों से पानी टपकने लगता था और पूरा घर-सामान, सब गीला हो जाता था। इसके अलावा बस्तियों में पीने का पानी, साफ़-सफाई कुछ भी नहीं था, हवा का कहीं से आना-जाना नहीं, बिल्कुल बंद सा...... मतलब... बीमारियों का घर था। लोगों को अक्सर कुछ न कुछ बीमारी होती रहती थी।

जैसे तुम्हारी ज्योति दीदी आयी थीं, वैसे ही वहां 'मास्टर आदम' साइकिल में सोलापुर के बस्तियों के चक्कर लगाया करते थे। मास्टर आदम जो कि सीटू यानि सेन्ट्रल इंडस्ट्रियल ट्रेड यूनियन के सदस्य थे, ये सी.पी.आई. पार्टी का हिस्सा हैं। तो उन्हें भी यही लगा कि स्थितियां बदतर हैं, वे बदलनी चाहिए। लेकिन जो लोग इन परिस्थितियों को झेल रहे थे, आवाज़ वहां से उठनी ज़रूरी है, आवाज़ की ताकत तब बनती है। यहां भी वही बात थी कि जिनका संघर्ष है, उन्हें ही इसकी अगुवाई करनी होगी, तब ही परिस्थितियां बदलेंगी। लेकिन उन कामगारों के सामने भी वही सवाल आ रहे थे-जो आज तुम्हारे सामने हैं। इसके लिए उन्होंने ये तरीका अपनाया कि सरकारी योजनाओं और सेवाओं से कामगारों को जोड़ा जाए। कामगारों को इनका लाभ भी मिलेगा और इस बहाने उनके साथ उनके अधिकारों पर भी बातचीत होगी। और ऐसा ही हुआ। पहले इन योजनाओं के बारे में बातचीत होती थी, फिर धीरे-धीरे संगठित होने के बारे में बात करने लगे, बेहतर कमाई और आवास पर बात की और गली -गली में बीड़ी कामगारों की ज़रूरतों पर चर्चायें होने लगीं। यानि चर्चा और समझ का दायरा बढ़ता गया।

इस कोशिश में, सोलापुर की महिला बीड़ी कामगार संगठित हुईं और उन्होंने सरकार से आवास के अधिकार की मांग की। पर मैंने जैसा कहा था ना! कि समय लगता है। यहां भी कामगारों को अपनी माँगें मनवाने के लिए लंबा संघर्ष करना पड़ा। सबसे पहले उन्होंने सहकारी आवास समितियों का गठन किया। बड़े पैमाने पर लामबंदी हुई, अपना काम छोड़-छोड़ कर वो प्रदर्शन करते, उन्होंने खिलाफ़त का यह पूरा अभियान चला रखा था। 1990

के दशक के अंत तक जब सहकारी आवास के लिए आंदोलन अपने चरम पर पहुंच गया, तब बीड़ी कामगार सोलापुर आने वाले हर मंत्री का घेराव करते और अपनी आवास परियोजना की स्थिति जानने की मांग करते थे। यह विरोध इतना ज़बरदस्त था कि केन्द्र और राज्य सरकार को उनकी मांग मानते हुए, घरों के निर्माण के लिए बजट में अलग से धन-आबंटन करना पड़ा।

पर इस अपनी सफलता के लिए बीड़ी कामगारों ने अपना काफ़ी कुछ दाँव पर लगाया था- काम छोड़ कर धरना प्रदर्शन में आते रहे, लाठियां खाईं, मानसिक, शारीरिक और आर्थिक चोटों को बर्दाश्त किया। और ज़्यादातर इसमें महिलाएं थीं, तो समझ सकती हो कि उन्हें ये संघर्ष कितने स्तर पर करना पड़ा होगा!' आपा जब इस संघर्ष के बारे में शबनम को बता रही थीं तो जोश से उनकी आंखें चमक रही थीं।

'आपा! सच में यह संघर्ष उम्मीदें देता है। बदलाव तो आना है, उसे कोई नहीं रोक सकता। आपने मेरी दुविधा भी ख़त्म कर दी। ये तो मेरे लिए गर्व की बात होगी, अगर मैं इस संघर्ष का हिस्सा बनूंगी या नेतृत्व करूंगी।' शबनम की आवाज़ में खनक थी। आपा ने शबनम की तरफ़ प्यार से देखते हुए हामी भरी।

मुझे ये औरत चाहिए!

(यौनकर्मी अधिकार कार्यकर्ता मीना सेशु से एक बातचीत)

हमारे देश में यौनकर्म या सेक्स वर्क की एक लंबी परंपरा रही है, लेकिन इनके संगठित आंदोलन काफ़ी समय बाद शुरू हुए। इन आंदोलनो का एक लंबा और जटिल इतिहास रहा है, जिसमें कई जरूरी पड़ाव आये हैं। यह आंदोलन ख़ासतौर पर सेक्स वर्क को 'दूसरे कामों' की तरह ही मान्यता देना, कामगारों के अधिकारों, सामाजिक सुरक्षा, सुरक्षित काम की जगह, सेक्स वर्क को अपराध न माना जाना जैसी मांगों पर केन्द्रित रहा है।

हम इन आंदोलनों की शुरूआत 1980 के बाद से देखते हैं। आज़ादी से पहले और आज़ादी के बाद के दौर की कानून व्यवस्था में यौन कर्मियों को हाशिए पर रखा गया और उन्हें अपराधी माना गया। 1980 के दशक के शुरूआती दौर में मानव तस्करी और यौन संचारित रोगों से निपटने की कोशिश करने वाले नारीवादी और स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने कुछ पहल किए थे। 1990 के दशक में दुनिया भर में जब एच.आई.वी. या एड्स के ख़तरे बढ़ने लगे, तब सभी का ध्यान 'यौन कर्मियों' की ओर गया। लेकिन तब भी यह ध्यान बहुत सीमित स्तर पर था। बात यहीं तक थी कि यौन कर्मियों के माध्यम से यह रोग और न फैले, ना कि इस बात की चिंता थी कि इन रोगों के प्रति यौनकर्मी ज़्यादा संवेदनशील हैं, उनके स्वास्थ्य पर इसका ज़्यादा असर पड़ेगा। तब कोलकाता के दुर्बार महिला समन्वय समिति जैसी संस्थाओं ने यौनकर्मियों के स्वास्थ्य अधिकारों की वकालत की। 1992 में स्थापित

दुर्बार महिला समिति ने ही यौनकर्म को अपराध न मानने और कामगार अधिकारों को बढ़ावा देने के लिए आवाज़ उठाई। इनका ध्यान एच.आई.वी. की रोकथाम और स्वास्थ्य सेवाओं तक यौनकर्मियों की पहुंच बनाना था।

2000 के दशक में हम देखते हैं कि यह आंदोलन संगठित रूप लेने लगा था। महाराष्ट्र में वेश्या अन्याय मुक्ति परिषद जैसे संगठन यौनकर्मियों के अधिकार और गरिमा के लिए मजबूत आवाज़ उठा रहे थे। इस दौरान आंदोलन की मुख्य मांग यौनकर्म को अपराध की श्रेणी से बाहर करने की थी। आंदोलन का तर्क यह था कि वेश्यावृत्ति निरोधक अधिनियम (ITPA) जैसे कानून जो कस्टमर से संपर्क करना, या कोठा चलाना जैसे कामों को अपराध की श्रेणी में रखते हैं, जो कारण बनता है यौनकर्मियों के उत्पीड़न का। इस आंदोलन की मुख्य मांग यह थी कि यौनकर्म को अपराध की श्रेणी से बाहर निकाला जाए, जिससे यौनकर्मियों को पुलिस द्वारा हिंसा, गिरफ्तारी या बेदख़ली के डर के बिना काम करने का अधिकार मिल सके। यौनकर्म को भी 'काम' की तरह मान्यता मिले, जिससे यौनकर्मियों को भी सामाजिक सुरक्षा, स्वास्थ्य सेवाएं और पेंशन जैसे अधिकार मिल सकें, जो दूसरे क्षेत्र के कामगारों को मिलते हैं। आंदोलन का एक प्रमुख मुद्दा स्वास्थ्य ख़ासतौर पर एच.आई.वी./एड्स की रोकथाम और उपचार का था, जिसमें मांग की गई थी कि यौनकर्मियों को उपचार सेवाएं बिना किसी सामाजिक पूर्वाग्रह के मिल सकें, इसकी व्यवस्था सरकार सुनिश्चित कर सके। ये आंदोलन मानव तस्करी को रोकने के लिए किए जा रहे प्रयासों का तो समर्थन करता है, लेकिन अगर कोई महिला अपनी इच्छा से इस काम को अपनाती है तो उसे भी मानव तस्करी की तरह देखना और उसके काम को अपराध कहना, इसका विरोध करता है।

यौनकर्मियों के आंदोलन में कुछ संगठन व कार्यकर्ताओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, उनमें मीना सेशु, डॉक्टर समरजीत जना, कुसुम और प्रज्वला प्रमुख हैं। डॉ. समरजीत जना जो कि एक सार्वजनिक स्वास्थ्य विशेषज्ञ थे। उन्होंने यौनकर्मियों के स्वास्थ्य अधिकार पर विशेष तौर पर काम किया था। उन्होंने दुर्बार महिला समन्वय समिति की स्थापना में मदद की जो कि यौनकर्मियों का बड़ा संगठन है। कुसुम, जो स्वयं यौनकर्मी रही थी, नेशनल नेटवर्क ऑफ़ सेक्स वर्कर' की मुखर नेता के तौर पर उभरीं और यौनकर्मियों के अधिकारों से जुड़े अभियानों का नेतृत्व किया।

मीना सेशु एक प्रमुख कार्यकर्ता हैं, जिन्होंने महाराष्ट्र के सांगली में वेश्या अन्याय मुक्ति परिषद की सह-स्थापना की, उन्होंने यौनकर्मियों के सशक्तिकरण के लिए 'संग्राम' एन.जी.ओ. की स्थापना की। यह संगठन यौनकर्मियों के अधिकारों, अपराधमुक्ति और एच.आई.वी. पोज़ेटिव यौनकामगारों की स्वास्थ्य सेवाओं पर काम करता है। आइए मीना सेशु से बातचीत कर उन समस्याओं और चुनौतियों को जानें, जो यौनकर्मियों के आंदोलन को प्रभावित कर रही है! कार्यकर्ता के तौर पर संघर्ष की उनकी अपनी यात्रा कैसी रही, आइए उनसे इस संदर्भ में कुछ बातचीत करते हैं-

सवालः मीना जी! यौनकर्मियों के आंदोलनों की क्या चुनौतियां रही हैं?

मीना सेशुः सबसे बड़ी आंदोलन की चुनौती यह थी कि सेक्स वर्क के काम को काम नहीं माना जाता। इस सोच के पीछे की वजह यह है कि हमारे समाज के अनुसार कोई भी अच्छी महिला अपनी मर्ज़ी से सेक्स वर्क के पेशे को नहीं चुनेगी। उसने किसी मजबूरी की वजह से, यो धोखे से या तो किसी के द्वारा जबरदस्ती इस पेशे में कदम रखा होगा। समाज आज भी इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है कि महिलाएं खुद अपनी मर्ज़ी से इस काम को चुन सकती हैं।

सवालः मीना जी क्या आप ये बात किसी रिसर्च या डाटा के आधार पर कह रही हैं? या फिर आपके काम के अनुभव से?

मीना सेशुः हमने पुणे विद्यापीठ के इकोनॉमिक्स डिपार्टमेंट के साथ मिलकर एक पैन-इंडिया सर्वे किया था 16 राज्यों में। इस सर्वे के तहत काफ़ी रोचक तथ्य सामने आए। 6 साल की छोटी उम्र से ही लड़कियां काम करना शुरू कर देती हैं। वो अपनी मां और परिवार की काम में मदद करती हैं और आर्थिक रूप से योगदान करती हैं। सर्वे में करीबन 253 से ज़्यादा प्रकार के काम की पहचान की गई, जिस में लड़कियां अपना योगदान देती हैं। इस रिसर्च से पता चला कि 70 प्रतिशत महिलाओं ने सेक्स वर्क को चुना; क्योंकि उनकी आय में वृद्धि हो रही थी इस काम से। कुछ महिलाओं ने सेक्स वर्क के काम को फुलटाइम करने का निर्णय लिया और कुछ महिलाओं ने निर्णय लिया कि वो पार्ट टाइम इस काम को करेंगी और साथ में किसी और व्यवसाय से भी जुड़ेंगी। काफ़ी छोटी संख्या थी उन औरतों की जिन्हें किसी ने/किसी के द्वारा सेक्स वर्क करने को मजबूर किया होगा।

ये जानकारी हमारे लिए काफ़ी महत्त्वपूर्ण रही, क्योंकि इस सर्वे से पहले हम भी ये सोचते थे कि ज़्यादातर महिलाएं सेक्स वर्क के काम में किसी के द्वारा ज़बरदस्ती धकेली जाती हैं। मगर रिसर्च के डाटा ने हमारे इस भ्रम को तोड़ दिया। ये सच है कि ग़रीबी की वजह से महिलाएं इस काम को करती हैं। मगर समाज को ये समझना पड़ेगा कि जो औरतें इस को अपने लिए चुनती हैं, वो इस काम से जुड़े फायदे को ध्यान में रख कर चुनती हैं। ये काफ़ी दिलचस्प जानकारी है कि इस काम को समाज गंदा व ख़राब मानता है, फिर भी महिलाएं सेक्स वर्क के काम को काम मानकर करना चाहती हैं। यह महिलाओं की एजेंसी को दर्शाता है। इस रिसर्च के बाद हमने ये तय किया कि हमें सेक्स वर्कर्स के साथ काम करने की कार्यनीति बदलनी होगी।

सवालः सेक्स वर्कर के मुद्दों पर कैसे काम शुरू हुआ?

मीना सेशुः हम तो एच.आई.वी. के मुद्दे पर काम करते थे। सरकार ने हम से कहा कि हम सेक्स वर्कर्स के साथ काम करें। सरकार की सोच थी कि एच.आई.वी. को समाज में फैलने से रोकना है और उनका डर था कि घर में बैठी अच्छी औरतों को एच.आई.वी. वायरस से बचाना है। सरकार का फ़ोकस था कि वो, ब्रिज पॉपुलेशन' की सुरक्षा के बारे में सोच रहे थे। 'ब्रिज पॉपुलेशन' ऐसे लोगों का समूह है जो ए.आई.वी. से संक्रमित होने के जोख़िम में हैं, क्योंकि वो उच्च्व जोख़िम वाले समूहों यानि कि सेक्स वर्कर्स के करीब हैं। जैसे कि सेक्स वर्कर्स के ग्राहक या साथी, एम.एस.एम. (वो पुरुष जो अन्य पुरुषों के साथ शारीरिक संबंध बनाते हैं) आदि।

हमें लगा कि ये ठीक नहीं है कि सरकार सेक्स वर्कर्स की सुरक्षा के बारे में नहीं सोच रही। हमने ये तय किया कि अगर हम काम करेंगे तो नारीवादी नज़रिए से करेंगे और महिला सेक्स वर्कर्स के स्वास्थ्य और सुरक्षा को केंद्र में रखकर करेंगे। हमने अपना प्रोग्राम महिला सेक्स वर्कर्स पर केंद्रित किया। हमारा टारगेट सिर्फ़ ये नहीं था कि सेक्स वर्कर्स कंडोम इस्तेमाल करें। हम इस पर भी बात करते थे कि वो क्यों नहीं कंडोम इस्तेमाल करते, कैसे वो अपने आप को सुरक्षित रखें-सिर्फ़ एच.आई.वी. वायरस के संदर्भ में नहीं, उनके ओवर-ऑल स्वास्थ्य को लेकर, ज़िंदगी को लेकर उनकी क्या परेशानियां हैं, आदि बातों पर चर्चा करते थे/हैं। मुझे याद है कि जब हम महिलाओं से पूछते थे कि तुम्हारे कहने पर ग्राहक कंडोम इस्तेमाल करेगा? तब महिलाएं मुझसे पूछती थीं कि "तू कितने आदमियों के साथ सोई है? हमको मत सिखा। बस ये बता कि कंडोम क्यों इस्तेमाल करना ज़रूरी है और

कैसे इस्तेमाल करना है; बाकी हम पर छोड़ दो।''

जैसे-जैसे सेक्स वर्कर्स के बीच में एच.आई.वी. से जुड़ी जागरूकता बढ़ी, वैसे-वैसे हमने देखा कि महिलाओं ने सुनिश्चित किया कि उनके ग्राहक कंडोम इस्तेमाल करें। शुरूआत में औरतें कहती थीं कि पुरुष कंडोम पहनने से मना करते थे, क्योंकि उनको सेक्स करते समय कंडोम का इस्तेमाल करने पर ऐसा लगता था कि मानो उन्होंने कुछ नहीं किया हो।

ज़्यादातर युवा पुरुष जो कि एच.आई.वी. पॉज़िटिव होते थे और हमारे पर एच.आई.वी. काउंसलिंग सेंटर आते थे, हम उनको सलाह देते थे कि शादी मत करो, अगर हो गई तो बच्चा मत करो। मगर उनकी यौनिकता उनके हाथों में नहीं होती थी। उनका परिवार उनका कंट्रोल करता था। पुरुष समाज के चंगुल में फंसे हुए थे। उन पर शादी करने का दबाव था। बच्चा पैदा करने का दबाव था। कंडोम इस्तेमाल करने पर पूछा जाता था कि क्या कोई बीमारी है? जो पुरुष सेक्स वर्कर्स के साथ कंडोम्स इस्तेमाल करते थे, वो अपनी पत्नी के साथ कंडोम इस्तेमाल नहीं कर पा रहे थे। ऐसे पुरुष भी थे जिनको कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था कि उनकी वजह से किसी को एच.आई.वी. होगा।

सेक्स वर्कर्स ने हमसे कहा कि हम युवा पुरुष और घरों की महिलाओं (हाउस-वाइव्स) को एच.आई.वी. के बारे में जागरूक करें। उनका कहना था कि बड़ी उम्र के पुरुष कंडोम का इस्तेमाल आराम से कर लेते हैं, मगर युवा पुरुषों को समझाना मुश्किल होता है। वो सेक्स के प्रति काफ़ी आक्रामक रूप से उत्साहित होते हैं। इस सुझाव के बाद हमने ग्रामीण महिलाओं के साथ जिला स्तर पर जागरूकता अभियान किया।

सवालः क्या आप कुछ खास हड़तालों के बारे में बता सकती हैं?

मीना सेशुः हमने खूब पैरवी (एडवोकेसी) और विरोध प्रदर्शन किया है। सिविल अस्पताल के बाहर लगातार हड़तालें कीं; ताकि सेक्स वर्कर्स को भी बेहतर ट्रीटमेंट मिले और सेक्स वर्कर्स के काम से जुड़े कलंक के खिलाफ़ लड़ाई लड़ी। एच.आई.वी. के डर की वजह से डॉक्टर सेक्स वर्कर महिलाओं को हाथ नहीं लगाते थे। हमने ज़िला परिषद के बाहर हड़ताल की-कंडोम के अधिकार को लेकर। जिला परिषद वाले कंडोम्स ऐसे देते थे मानो उपकार कर रहे हों। जिला परिषद के बाहर चिल्ला-चिल्ला कर बोलते थे- 'कंडोम तेरे बाप का है क्या?' हमने उस समय के स्वास्थ्य मंत्री को प्रोटेस्ट करते हुए दो कंडोम भेजे और कहा कि एक अच्छा कंडोम है और एक बुरा। यह 1993 से 1995 के बीच की बात है, हम लोग अच्छी क्वालिटी के कंडोम्स के लिए भी लड़ रहे थे। उस समय कंडोम्स की क्वालिटी चेक आसानी से नहीं होती थी। हम कंडोम्स की क्वालिटी चेक के लिए ऑस्ट्रेलिया भेजते थे। फिर पता चला कि कंडोम्स की कंपनियों के कंडोम्स की क्वालिटी बेहतर है-दूसरों की तुलना में आदि। फिर हमने शिक्षा और यौनिकता पर बात की। स्कूल और विश्वविद्यालय में तो सरकार ने ये करने से मना कर दिया तो हमने फिर विरोध किया। 'संग्राम', जिस संस्था से मैं जुड़ी हुई हूं, ने एक महिला अधिकारों का चार्ट निकाला।

हम विरोध करने के लिए विरोध नहीं कर रहे थे, हमें राज्य से जवाब चाहिए था और विरोध करने से हमें मदद मिली और हक़ भी। फिर एंटी ट्रैफ़िकिंग बिल (मानव तस्करी) आया, जिसका हमने विरोध किया, क्योंकि हम हमें डर था कि ऐसे कानून सेक्स वर्क को मानव तस्करी के साथ जोड़ देते हैं और अनजाने में उन यौन कर्मियों को दंडित कर सकते हैं, जिनकी तस्करी नहीं की जा रही है।

उन दिनों का हमारा नारा था, 'हमें हमारे रक्षकों से बचाओ!' हम ने पुलिस के खिलाफ़, गुंडों के खिलाफ़ विरोध प्रदर्शन किया है। एक पुलिस वाले ने मेरे सामने कहा था सेक्स वर्कर्स को कि "आज ये औरत तुम्हारे साथ हैं, मगर कल ये नहीं होंगी। मैं अपने पुलिस ताकतवर लिंग से तुम्हारी योनि को फाड़ डालूंगा।" हम ने बड़े पैमाने पर इस के खिलाफ़ विरोध किया। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विरोध प्रदर्शन हुआ था। विरोध सिर्फ़ रास्तों पर नहीं होता, ऑनलाइन (डिज़िटल) भी होता है।

सवालः आपने जब सेक्स वर्कर समुदाय के अधिकारों पर काम करने निर्णय लिया तो नारीवादी समुदाय और डोनर्स की क्या प्रतिक्रिया थी?

मीना सेशुः जब मैं दहेज के मुद्‌दे पर काम करती थी, डिज़र्टिड (वे महिलाएं जिनके पति साथ नहीं रहते या कहीं चले गए हैं) महिलाओं के साथ काम करती थी, तब नारीवादी समुदाय ने मेरी काफ़ी प्रशंसा की, मगर जैसे ही मैंने सेक्स वर्कर्स के अधिकारों पर बात करनी शुरू की तो नारीवादियों ने शुरूआती समय में मेरा साथ नहीं दिया।

वर्ष 2005 में एक कॉन्ट्रोवर्सी (विवाद) में भी फंसे-यू.एस. सरकार की एक एंटी-प्रॉस्टिट्यूशन प्लैज (वेश्यावृत्ति विरोधी शपथ) थी और हम ने निर्णय लिया कि संग्राम इस प्लैज (शपथ) को सपोर्ट नहीं करेगा। हमारे डोनर ने कहा कि हमें ये प्लेज साइन करना होगा और हमने मना कर दिया और आपसी सहमति से डोनर को फंड भी वापस कर दिया। मगर फिर एक रिसर्चर जिसके पास यू.एस. की फ़ैलोशिप थी, उस रिसर्चर ने बिना पूरी जानकारी के लिखा कि संग्राम ट्रैफ़िकर हैं, क्योंकि हमने यू.एस. का एंटी-प्रॉस्टिट्यूशन प्लैज साइन नहीं किया और यू.एस

डोनर को फंड वापस कर दिया। इसके बाद काफ़ी बवाल हुआ, अखबारों में आया कि मैं तस्करी करती हूं आदि। इस वक्त हमें सहयोग मिला भारत सरकार से। हमारी सरकार ने उन्हें लिखित में ई-मेल किया और कहा कि ऐसे गलत आरोप स्वीकार नहीं करेंगे। और हमारे अंतर्राष्ट्रीय पार्टनर्स ने भी साथ दिया। आखिर में यू.एस. एंबेसी ने एक प्रेस नोट निकाला और कहा कि संग्राम और यू.एस. डोनर के बीच में आपसी सहमति से फंड को वापस लौटाया गया था और ट्रैफ़िकिंग का कोई मामला नहीं है।

सवालः क्या आप को लगता है कि हमें और महिलाओं और नारीवादी नज़रिए से नेतृत्व करने वाले और भी आंदोलनों की ज़रूरत है?

मीना सेशुः किसी भी आंदोलन और काम को नारीवादी सोच के तहत चलाने से फ़र्क़ पड़ता है। हमने जब सेक्स वर्कर्स के साथ काम किया तो हम उनको कोई निर्देश या ज्ञान नहीं दे रहे थे। हम उनके साथ बात करते हैं, चर्चा करते हैं। हमारा मानना है कि एक सेक्स वर्कर की लीडरशिप में ही सेक्स वर्कर्स के अधिकारों का आंदोलन चल सकता है।

सवालः क्या शुरूआत में आप को सेक्स वर्कर्स समुदाय ने आराम से अपनाया था?

मीना सेशुः नहीं, काफ़ी समय लगा अपनाने में। उत्तर कर्नाटक में एक बार मेरे ऊपर पत्थर फेंके गए। मेरे ख्याल से वो डरे हुए थे। एक बार एक पुरुष ने मुझे देख कर कहा कि-"मुझे ये औरत चाहिए।" मुझे बहुत गुस्सा आया। मेरे आसपास जो सेक्स वर्कर्स खड़े थे, वो उस पुरुष को बोल भी रहे थे कि मैं सेक्स वर्कर नहीं हूं, मगर उस ने काफ़ी शराब पी रखी थी। औरतों ने मुझे वहां से घर जाने को कहा और मैं जब रिक्शा करके जा रही थी तो मैंने देखा कि सारी औरतों ने मिलकर उसे खूब पीटा। वो दृश्य मेरे ज़ेहन में बैठ गया और मैंने सोचा कि क्या हम बोलते रहते हैं कि सेक्स वर्कर्स महिलाओं के पास एजेंसी नहीं होती? ये देखो, सेक्स वर्कर्स अपने ग्राहक को किसी अनजान महिला से बदतमीज़ी करने पर कैसे मार रही हैं! मैं घर में गई गुस्से से और बोला मेरे पति को कि मैं अब से सेक्स वर्करों की गली में नहीं जाऊंगी। मेरे पति ने बड़े आराम से मुझे कहा कि इसमें बुरा मानने की क्या बात है! तुम अगर सेक्स वर्करों के इलाके में हो और एक महिला हो तो कोई पुरुष तुम को ऐसा समझे तो इसमें बड़ी बात क्या है? ऐसा कई बार हुआ है। एक बार जब हम प्रोटेस्ट कर रहे थे, उसको एक अख़बार ने कैप्चर करते हुए लिखा था-"वेश्या मीना सेशु:...। मेरे आसपास के सब लोगों ने कहा कि अख़बार के खिलाफ़ मानहानि का केस करो। मैंने भी सोचा ठीक है। जब मैं वकील के पास गई तो उन्होंने मुझसे पूछा कि तुम किस चीज़ पर/आधार पर मानहानि का केस फ़ाइल करोगी? आप लोगों की लड़ाई तो इस बात पर है ना कि सेक्स वर्कर को कामगार की पहचान मिले। तो फिर आपको बुरा क्यों लग रहा है कि आपको किसी ने सेक्स वर्कर बोला! दोस्त, परिजन और साथी आपको समय-समय पर सही दिशा भी दिखाते हैं।

शुरूआत के समय कोई भी वेश्या-घर हमें उनके वहां पर ऑफ़िस लगाने और क्लीनिक चलाने जगह नहीं देते थे। औरतें भी नहीं बात करती थीं। बस हमारे आसपास कुछ कम उम्र की बच्चियां होती थीं, जिनको हमसे बात करने में रुचि होने लगी थी। हमने वहां से काम करना शुरू किया। एक सेक्स वर्कर का मर्डर हुआ था, उस केस में हम लोग सेक्स वर्कर्स समुदाय के साथ मजबूती से खड़े रहे। और वेश्या-घरों के लोगों को भी धीरे-धीरे लगा कि हम सच में उनकी फ़िक्र करते हैं। जब वो बीमार होते हैं तो उनके इलाज में मदद करते हैं। हमने सेक्स वर्कर

के अंतिम संस्कार की व्यवस्था करने तक में मदद की है। आराम-आराम से सेक्स वर्कर समुदाय को हम भरोसा हुआ है। ऐसा होने में काफ़ी समय लगा, तकरीबन 10 साल, 1992 से लेकर कुछ 2005-6 का एक समय लगा। एक स्लो प्रक्रिया रही है विश्वास जीतने की!

सवालः क्या इतने सालों में कुछ बदला है?

मीना सेशुः बहुत कुछ बदला है। नारीवादी आंदोलन एक ऐसा आंदोलन है जो सभी महिलाएं, चाहे किसी जाति, धर्म, वर्ग या काम से जुड़ी हैं-उनके अधिकारों की बात करता है। मुझे याद है कि जब फ्लाविया एग्नेस, जो एक एक्टिविस्ट हैं, महिला अधिकारों की पैरवी करने वाली वकील, मुझ से कहा कि मीना तुम्हारे सेक्स वर्कर्स के काम से हमको एक आइडिया मिला कि बार-गर्ल्स के साथ हम कैसे काम करें।

सवालः काम को जारी रखने में आपको किस बात से प्रेरणा मिलती है?

मीना सेशुः कोई और विकल्प नहीं है मेरे सामने। एच.आई.वी. का ख़तरा हमारे समाज में बड़े पैमाने में मंडरा रहा था। जब मैंने इसके बारे में सुना और देखा तो मुझे लगा कि यह कठिन लड़ाई होगी। ये वायरस हमको बुरी तरह से असर करेगा। एच.आई.वी. अभी भी वह मुद्दा है जो मेरा ध्यान खींचता है; क्योंकि मैं जानती हूं कि अगर सेक्स वर्कर महिलाओं ने सरकार के ख़िलाफ़ प्रदर्शन नहीं किया होता तो एच.आई.वी. क्या कर सकता था। हमें याद रखने की ज़रूरत है कि सरकारी कार्यक्रम प्रमुख आबादी के कंधों पर टिका हुआ था-वे लोग जो स्वयं एच.आई.वी. के साथ जी रहे हैं, यौनकर्मी, एम.एस.एम., ट्रांसमैन और ट्रांसवुमेन। वायरस को रोकने के लिए पूरा फ़ोकस उन्हीं पर था। लोग वास्तव में सामने आएं और वायरस को नियंत्रित करने में मदद की और हमें इस देश में एच.आई.वी. के प्रसार को रोकने में निभाई गई महत्त्वपूर्ण भूमिका को पहचानना चाहिए।

सवालः आप इतने साल से एक कार्यकर्ता के तौर पर इस मुद्दे पर काम कर रही हैं, कभी ऐसा महसूस नहीं हुआ कि बहुत हो गया अब मैं थक गई हूं?

मीना सेशुः देखो! एक बार जब आप सामूहिक रूप से सोचते हैं तो थकावट भी सामूहिक होती है। हर कोई ज़िम्मेदारी साझा करता है, गुस्सा और समस्याएं भी साझा होती हैं। इसलिए मुझे कभी व्यक्तिगत स्तर पर थकावट नहीं हुई है। हमने कभी भी किसी एक के लीडरशिप को बढ़ावा नहीं दिया है। 1996 में वेश्या अन्याय मुक्ति संगठन का गठन हुआ, मुस्कान का गठन हुआ, 2000 में एक क्लेक्टिव, मेल और ट्रांस सेक्स वर्कर्स, नज़रिया का गठन हुआ। जिसका फ़ोकस है मुस्लिम महिलाओं का समूह बनाना। हमारा मंत्र है सामूहिकता।

सवालः आप उभरते हुए नए कार्यकर्ता को क्या सलाह देना चाहती हैं?

मीना सेशुः सब से ज़रूरी है ये समझना की आपको कुछ नहीं पता । आप को समुदाय नहीं बुला रहा है, न ही वो आप से मदद मांग रहे हैं। आपको कार्यकर्ता बनने का शौक है। अक्सर लोग बोलते हैं कि मीना जी आपने बहुत अच्छा काम किया.... मैं कहती हूं कि मैंने कुछ नहीं किया,.... मैंने वो किया जो मुझे करना था... मैंने किसी पर उपकार नहीं किया।.... यही मेरी दुनिया का सपना था... तो मैंने किया। पहले अपने दिमाग पर काम करो... वास्तव में समझें कि समुदाय आपसे उनके लिए काम करने के लिए नहीं कह रहा है। आप समुदाय के साथ अपनी राजनीतिक समझ के कारण काम कर रहे हैं कि दुनिया कैसी होनी चाहिए।.... हम अच्छे सहयोगी बन सकते हैं। हर किसी को सहयोगियों की ज़रूरत होती है।

क्या आप जानते हैं कि आपकी चाय कहां से आती है?

मुन्नार चाय बागान आंदोलन

चूल्हे पर चाय चढ़ी हुई है, पैन में गरम-गरम ऑमलेट बन रहा है। लक्ष्मी ब्रेड पर मक्खन लगाते हुए घड़ी की ओर देखती है। सुबह के आठ बज चुके हैं.... हां, पर अभी थोड़ा वक्त है.... उसे 9 बजे तक ऑफ़िस पहुंचना है। लक्ष्मी के चेहरे पर खुशी साफ़ झलक रही है... आज 25 लोगों का एक ग्रुप मुन्नार घूमने आ रहा है। और इतने बड़े ग्रुप को मैनेज करने का, खासतौर पर अपने शहर मुन्नार दिखाने का पहली बार उसे मौका मिला है।

अगले 5 दिन तक काफ़ी बिजी रहने वाला है, ये सोचते-सोचते लक्ष्मी ने चाय की चुस्की लेना शुरू कर दिया। कुछ सोचती हुई वह मुस्कुराई..... किसने सोचा था कि मुन्नार के चाय बाग़ानों में काम करने वाले मेहनतकश अम्मा-बाबा की लाड़ली बिटिया पढ़-लिखकर दक्षिण भारत के केरल राज्य के कोचीन शहर की एक मशहूर ट्रेवल एजेंसी में टूरिस्ट गाइड बन जाएगी। लक्ष्मी की नज़र फिर से घड़ी के कांटों पर पड़ती है, 8:30 बज चुके हैं।.... अब घर से निकलने का वक्त हो चुका है। लक्ष्मी ने अपना बैग पैक उठाया और दुबारा चेक किया। सफर का सभी ज़रूरी सामान रख लिया है। वो अपनी स्कूटी उड़ाते हुए उस स्टॉप की तरफ़ निकल जाती है जहां ट्रैवलर और यात्री उसका इंतज़ार कर रहे हैं।

ट्रैवलर में सभी टूरिस्ट बैठ चुके थे। लक्ष्मी ने स्नैक्स के पैकेट यात्रियों को बांटना शुरू कर दिया। उसने कंडक्टर भैया को पिछली सीट से पानी की बोतलें निकाल कर यात्रियों को देने को बोला। ट्रैवलर के अंदर का माहौल उत्साह से भरा हुआ है, लोग आपस में मिल रहे हैं, किसी के फ़ोन की घंटी बज रही है, कोई फ़ोन पर तेज बात कर रहा है, कोई गाने लाउड स्पीकर पर सुन रहा है, और कोई कानों में ईयरफ़ोन लगा कर गुनगुना रहा है, सभी मुस्कुरा रहे हैं, बातें कर रहे हैं, ऐसा लग ही नहीं रहा है कि वो पहली बार एक दूसरे से मिल रहे हैं। लक्ष्मी का ध्यान पैकेट बांटते-बांटते ग्रुप की बातों की ओर गया....।

"पता नहीं हम लोग कब तक मुन्नार पहुंचेंगे, रात से पहले पहुंचेंगे क्या?"

"अच्छा राम, रुको मैं गूगल करता हूं। इनके हिसाब से एर्नाकुलम शहर से मुन्नार 3.5-4 घंटे की यात्रा है।"

“अच्छा सरला दीदी, जरा ये भी देखना कि मुन्नार में कहां-कहां घूमना चाहिए, अगर ट्रैवल गाइड भूल जाएं तो हम याद दिलाएंगे।”

“हां, हां, अम्मा, चाय पत्ती ले आऊंगी मैं, अच्छा सुनो मैं अभी फ़ोन रखती हूं, गाड़ी में बहुत शोर है, मुन्नार पहुंच के फ़ोन करती हूं आपको।”

“सुधा, मैं चाय बगाानों में काम करने वाली महिलाओं से भी मिलना चाहूंगी, मैं उनसे काफ़ी प्रभावित हूं, कैसे उन्होंने एकजुट हो कर इतनी बड़ी कंपनी को अपनी मांगों के आगे झुका दिया...सच में सीखने की बात है।”

‘हां-हां, हमें ये मौका बिल्कुल नहीं खोना चाहिए और घूमने का मज़ा तो तभी आता है जब आप उस जगह के बारे में और जानो - वहां का इतिहास समझो, वहां के समाज और राजनीति को जानो!’ यात्रियों की मिली-जुली बातचीत लक्ष्मी के कानों तक पहुंच रही थी। लक्ष्मी ने दिमाग में यात्रियों के इंटरेस्ट का एक पूरा खाका बन गया था।

‘आप सभी का केरल में स्वागत है! केरल जिसे ‘गॉडज़ ओन कंट्री’ यानि भगवान का अपना देश भी कहा जाता है। आइए आपको मिलवाते हैं अपने ट्रैवलर के ड्राइवर शिवनाथ चेतन भाई और उनके सहयोगी मुत्तु चेतन भाई से। यहां से मुन्नार तक की यात्रा, 4-4:30 घंटे की है। रास्ते में आपको दिखेंगे घने जंगल, झरने, और वादियां। आप रिलेक्स हो जाएं, मैं आपकी गाइड लक्ष्मी हूं। मैं आपकी इस दिलचस्प यात्रा कि हमसफर हूं। इस यात्रा के सबसे खूबसूरत पड़ाव के बारे में मैं आपको बता दूं कि मुन्नार केरल के पश्चिम घाट पर्वत श्रृंखला का एक शहर और हिल स्टेशन है। समुद्र तल से इसकी ऊंचाई लगभाग 1600 मीटर है। ये इदुक्की जिले में बसा है। मुन्नार को दक्षिण भारत का कश्मीर भी कहा जाता है।’

‘अच्छा लक्ष्मी ये मुन्नार नाम कैसे पड़ा? क्या यह शब्द मलयालम का है?’ एक यात्री ने पूछा।

‘हां! मुन्नार नाम दो शब्द से मिलकर बना है - मलयालम में मुन्नु मतलब तीन और अरु मतलब नदी, यानि जहाँ तीन नदियाँ एक दूसरे से मिलती हैं।’

‘ये तीन नदियां कौन-कौन सी हैं। इनके बारे में तो हमें बिल्कुल पता ही नहीं!’ एक थोड़े अधिक उम्र के यात्री ने कहा।

‘जी सर! इन नदियों के नाम हैं - मुधिरप्पुझा, नल्लाथन्नी और कंडाला। इस क्षेत्र में शुरू के दिनों से ही मलयारायण और मुत्तु वनादिवासी समुदाय के लोग रह रहे हैं जो कि एक शिकारी समुदाय था। शुरूआती दिनों में केवल तमिल और कुछ मलयाली ही यहां रहते थे। उन्हें चाय के बागानों में काम पर लगाया गया था। हालांकि मुन्नार शहर के बारे में, पहले लोग ज़्यादा कुछ नहीं जानते थे। लेकिन जब अंग्रेज़ों ने बड़े पैमाने पर यहां चाय के बगाान बनाये, लगभग बीसवी सदीं के शुरू में..... उसके बाद मुन्नार शहर को सभी जानने लगे।..... मुन्नार की पहचान इसकी खुली सड़कों और घुमावदार पहाड़ियों से होती है, मगर यहां बड़े पैमाने पर प्राइवेट प्रॅापर्टी का बोलबाला

है.... और हर जगह आपको बड़ी-बड़ी दीवारें दिखेंगी और उसके बाहर खड़े सुरक्षा गार्ड दिखेंगे'। लक्ष्मी को यह बताते हुए खुद पर गर्व भी हो रहा था कि वो कितना कुछ इस शहर के बारे में जानती है। और भला जानेगी क्यों नहीं, इसी जगह तो वह पली-बढ़ी है!

'लक्ष्मी मैम मुझे यहां से चाय की पत्ती भी खरीदनी है, तो इसका ध्यान रखिएगा। कोई अच्छी सी दुकान पर ज़रूर रोकिएगा। नहीं तो दोस्त नाराज़ हो जायेंगे, मुन्नार गए और चायपत्ती भी हमारे लिए नहीं लाए!'

'हां बिल्कुल! मुन्नार आए और चाय की पत्ती नहीं ली.... ये तो सही नहीं होगा।' लक्ष्मी मुस्कुरा दी।.... 'आप जानते हैं कि दक्षिण भारत में मुन्नार सबसे बड़ा चाय उत्पादन करने वाला क्षेत्र है। यहां का मौसम चाय के उत्पादन के लिए बहुत अच्छा है। 19वीं सदी से चाय बागान और उससे जुड़े हुए कारोबार तो यहां के लोगों की आजीविका का बड़ा साधन हैं। कई परिवार तो पिछली चार पीढ़ियों से एक ही चाय बागान में काम कर रहे हैं। मुन्नार में ज़्यादातर चाय बागान के.डी.एच.पी. कंपनी के पास हैं। इस वजह से यहां की ज़्यादातर आर्थिक गतिविधियां इनके ही कंट्रोल में हैं।'

'अरे ये तो आपने काफ़ी दिलचस्प बात बताई है! मैं चाय बागान के कामगारों के बारे में भी जानना चाहूंगी। जैसे कि उनकी ज़िंदगी कैसी है? किस तरह की दिक़्क़तें उन्हें इस काम को करने पर आती हैं, इनकी कमाई कितनी हो जाती है? शायद काफ़ी महिलाएं इस काम में लगी हुई हैं।' कमलजीत ने लक्ष्मी की बातों पर कुछ सोचते हुए कहा।

'ये सच में बहुत खुशी की बात है कि आप मुन्नार को करीब से जानना चाहते हैं।..... ज़रूर बतायेंगे। फिलहाल हम लोग अभी गाड़ी 15 मिनट के लिए एक होटल पर रोकेंगे, आप लोग फ्रेश हो लीजिए, जो लोग बैठे-बैठे थक गए होंगे, थोड़ी कमर सीधी कर लीजिए, पर 15 मिनट के अंदर वापस आ जाएं।' गाड़ी एक ढाबे जैसे होटल के पास रुक गई।

लोग समय से पहले ही ट्रैवलर में पहुंच गए थे।

'अपने आजू-बाजू देख लें कि आपके साथ के लोग आ गए हैं कि नहीं, कहीं कोई छूट तो नहीं गया!' लक्ष्मी ने उन्हें हंसते हुए कहा। ड्राइवर भैया ने गाड़ी स्टार्ट कर दी। गाड़ी ने धीमी गति से बढ़ते हुए स्पीड पकड़ ली। खिड़की से बाहर चाय का बागान नज़र आने लगा था। महिला पुरुष दोनों ही बागान में नज़र आ रहे थे। हालांकि महिलाएं ज़्यादा नज़र आ रही थीं।

सफर को थोड़ा और दिलचस्प बनाते हुए लक्ष्मी ने कमलजीत के सवाल को दोहराते हुए कहा 'चाय बागान में काम करने वाले महिला और पुरुष की दिनचर्या में काफ़ी अंतर है। पुरुष आधे दिन ही काम करते हैं, उनका काम सुबह 8 बजे से दोपहर 1.30 बजे तक होता है। उनका काम चाय के पौधों पर कीटनाशकों का छिड़काव करने का होता है और चाय की पत्तियों को मशीन से अलग-अलग करने का काम भी वो करते हैं।'

'अलग-अलग! मतलब?' कमलजीत ने पूछा।

'काले पत्ते, हरे पत्ते और सफेद पत्तों को अलग-अलग किया जाता है, तो ये काम पुरुष करते हैं। और महिला कामगार पौधे लगाने से तोड़ने तक, सभी फ़ील्ड वर्क का काम उनके हिस्से है। जिसमें वे हर दिन कम से कम...... 9 घंटे तक हाथ से चाय की पत्तियां तोड़ती हैं। हरेक महिला कामगार को दिन में, कम से कम 21 किलो चाय की पत्तियां तोड़नी होती हैं। अगर वह दिन में 21 किलो से ज़्यादा पत्तियां तोड़ लेती हैं तो उसको अतिरिक्त भुगतान मिलता है। जब मैं छोटी थी..... तो उस समय अम्मा को 1 किलो ज़्यादा पत्ते तोड़ने पर 1 रुपया मिलता था।'

'और अगर कोई महिला कामगार दिन में 21 किलो से कम ही पत्ती तोड़ पाई तो.... क्योंकि सभी का काम का तरीका और स्पीड एक जैसा तो होता नहीं है?' पीछे बैठे बुजुर्ग यात्री ने ये सवाल किया।

'जी बिल्कुल सही बात है। अगर वह 21 किलो पत्ती नहीं तोड़ पाती है, तो उसके वेतन से पैसा काटा जाता है। साप्ताहिक वेतन जिसमें चावल का मासिक बंडल भी शामिल है।

'21 किलो पत्ती तोड़ने में तो बहुत समय लगता होगा!' सलमा ने सवाल किया।

'महिला कामगारों की दिनचर्या इस तरह की होती है। वे सुबह 5 बजे उठती हैं, घर के रोज के काम निपटाती, फिर 7.45 बजे तक काम पर पहुंचने के लिए घर से निकल जाती हैं। काम की जगह घर से 1-3 किलो मीटर की दूरी पर है तो उसे वहां तक पैदल जाना होता है। दिन में लंच के लिए एक घंटे का ब्रेक होता है 12.30-1.30 बजे। उतनी देर में उसे घर जा कर, खाना खा कर वापिस लौटना होता है। फिर डेढ़ बजे से साढ़े पांच बजे तक वे लगातार काम करती हैं। कई कामगार, घर का खर्च पूरा करने के लिए ओवरटाइम भी करती हैं। और जैसा कि आप समझते ही होंगे, घर पहुंचने के बाद घर के अपने काम-बच्चे, खाना, धुलाई-सफ़ाई, सभी कुछ।' लक्ष्मी ने सबके चेहरे पर नज़र डालते हुए कहा।

'और इतने काम का पैसा कितना मिलता है?' एक युवा यात्री ने पूछा।

'कामगारों को साप्ताहिक वेतन मिलता है। और महीने में 1 बंडल चावल भी मिलता है, पर उसका पैसा उनकी वेतन से काटते हैं। हरेक घर में एक रसोई है और एक से दो बेडरूम हैं। बिजली, पानी या बाकी दूसरे खर्चे उन्हें खुद ही उठाने होते हैं।' लक्ष्मी की बातों से साफ़ पता लग रहा था कि यह उसका भोगा हुआ सच है, कोई किताबी बात नहीं है।

किसी ने पूछा ही लिया 'आपको इतना कुछ इनके बारे में कैसे मालूम है?'

'मैंने अपनी ज़िंदगी के 20 से ज़्यादा साल इन्हीं चाय बागानों में बिताए हैं। हमारी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए अम्मा बाबा को दिन रात भागते-दौड़ते देखा है। बोनस का उन्हें बहुत इंतज़ार होता था, हमारे पढ़ाई के खर्चे उसी से निकलते थे। अम्मा तो हर बार यही चाहती थी कि बोनस के पैसे से हम बहनों की शादी के लिए सोना खरीदा जाए। पर मेरा सपना था कि शहर जाकर आगे की पढ़ाई कर सकूं। दीदी को सिलाई मशीन चाहिए थी

और भाई को साईकिल चाहिए थी। हम सब बच्चे ही तो थे..... ऐसा लगता था कि साल के बोनस से सभी के सपने पूरे हो जाएंगे।.... अम्मा-बाबा काफ़ी हिसाब-किताब लगाकर साल के लिए हम बच्चों में से किसी एक की चाहत को पूरा कर पाते थे और बाकी बच्चों को कहते थे कि अगले साल उनका नम्बर लगेगा।'

"क्या इन बागानों में कामगारों के अधिकारों की हिफ़ाजत के लिए कोई यूनियन नहीं है?," सलमा जो कि एक रिसर्च स्टुडेंट है, उसने पूछा।

"हां यूनियन है। मेरे अम्मा-बाबा दोनों ही चाय बागान कामगार यूनियन के सदस्य थे और बाकी कामगारों की तरह वे यूनियन फ़ंड में सालाना 200 रूपये का भुगतान भी करते थे। यूनियन की सप्ताह में एक दिन मीटिंग होती है, जिसमें कोई भी कामगार जाकर अपनी परेशानी को रख सकता है। मेरी अम्मा बताती थी कि मीटिंग में ज़्यादातर पुरूष ही होते हैं और अक्सर मीटिंग के बहाने शराब पीते हैं। इस कारण महिलाएं इन बैठकों में ना के बराबर जाती हैं।" लक्ष्मी के चेहरे पर निराशा के भाव थे।

'क्या आप 'प्लांटेशन लेबर एक्ट-1951' के बारे में जानती हैं?' सलमा की साथी रश्मि ने पूछा।

'हां! जानती हूं। पढ़-लिख कर कुछ समझ बनी तो सबसे पहला काम यही किया, इस कानून को समझना। यह बागान कामगारों के कल्याण के लिए है, उनके काम की शर्तों को विनियमित करता है। इस कानून के दायरे में सभी बागान-कोको, सिनकोना, रबर, कॉफ़ी, ऑयल पाम, इलायची सभी आते हैं, जो पांच हेक्टेयर या उससे अधिक हैं, और जिसमें पांच या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हैं।'

किसी ने मुंह बनाते हुए पूछा "यह सिनकोना और कोको क्या है?"

सलमा ने जवाब दिया कि 'सिनकोना' की पेड़ की छाल का इस्तेमाल मलेरिया होने पर इलाज के लिए दी जाने वाली दवा 'कुनैन' को बनाने के लिए किया जाता है। ये पेड़ मूलरूप से दक्षिण अमेरिका का है। भारत में इसका बागान पश्चिम बंगाल के दार्ज़लिंग और कलिंगपोंग जिलों की पहाड़ियों में है। कोको के बीज जिससे चॉकलेट वगैरह बनाए जाते हैं, इसके बागान कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु में हैं।

'ओह! अच्छा....'

लक्ष्मी को रश्मि और सलमा दोनों ही काफ़ी पसंद आ रही थीं। उनकी बातों से ऐसा लग रहा था कि उन्हें चीजों की गहरी जानकारी है।

लक्ष्मी ने सलमा और रश्मि की ओर देखते हुए कहा 'वृक्षारोपण श्रम कानून के तहत हर एक एस्टेट की ज़िम्मेदारी बनती है कि वे अपने कामगारों के शिक्षा, स्वास्थ्य और आवास की व्यवस्था करें। हालांकि, मुन्नार के इन बागानों में ये सुविधाएं मौजूद हैं, लेकिन बहुत अच्छी नहीं हैं। एक तरह की खानापूर्ति है। तीसरी क्लास तक पढ़ने के लिए विद्यालय मौजूद था, लेकिन बाद की पढ़ाई के लिए बच्चों को मुन्नार शहर तक जाना पड़ता था। बच्चों के आने जाने का खर्च परिवार को ही करना पड़ता था। इसके अलावा हर एस्टेट में डिस्पेंसरी थी, डिस्पेंसरी में एक पार्ट

टाइम डॉक्टर, एक अटेंडेंट, एक नर्स और एक रसोइया है। ये सप्ताह के सातों दिन सुबह 7.45 से दोपहर 12 और 3.30 से शाम 6 बजे तक खुला रहता है। काम करते हुए अगर किसी कामगार को चोट लग जाती है तो दूसरे कामगार उसे इन्हीं डिस्पेंसरियों में ले जाते हैं। अगर मामला गंभीर होता है तो के.डी.एच.पी. के मुन्नार शहर के अस्पताल में रेफ़र कर दिया जाता है। चाय बागानों से मुन्नार शहर के अस्पताल में गाड़ी से जाने में तीस मिनट लग जाते हैं, और इसका इंतज़ाम भी कामगारों को खुद ही करना पड़ता है। यहां एंबुलेंस की कोई व्यवस्था नहीं है। के.डी.एच.पी. जनरल अस्पताल को बागान कामगारों के लिए एक मुफ़्त अस्पताल के तौर परिचय दिया जाता था, पर सच्चाई यह थी कि इन कामगारों के लिए साल में पहले दो विज़िट तो मुफ़्त थे, लेकिन बाद में जितनी बार विज़िट की ज़रूरत होती थी, उसका पैसा इन कामगारों को अपनी जेब से लगाना होता था।'

लक्ष्मी यह बोल कर चुप हो जाती है, वो एक गहरी सांस लेती है, उसके चेहरे पर निराशा के भाव हैं। उसे अपने अम्मा बाबा का ख्याल आया, कैसे वे थके मांदे से घर लौटते थे। कितनी मेहनत करते थे वो।

'चाय बागान के ये कामगार जिस तरीके से मेहनत करते हैं, जिस तरह से उनकी भावनाओं और ज़रूरतों का फायदा उठाया जाता है, इसे देख कर तो लगता है कि उनको कामगार नहीं गुलाम माना जा रहा है।' लक्ष्मी फिर से बोल पड़ी। लक्ष्मी की बातों से एक चुप्पी सी छा गई। सलमा जो कि एक निर्माण मजदूर की बेटी है, लक्ष्मी की बात उसे छू गई। उसे मां की एक बात आ गई 'पढ़-लिख कर क्या करोगी। एक मजदूर की बेटी हो मजदूरी ही करोगी। हमें सपने देखने का कोई हक़ नहीं है।' सलमा ने कहा 'हमारे समाज की यही व्यवस्था चलती आई है। मजदूरी करो, और मेहनत का बस इतना ही मिलेगा जितने में, खींच तान कर परिवार का पेट भर पाएगा, ना काम की कोई सुरक्षा और न ही कोई और ही सुविधा। परिवार का पेट भरने के लिए ही इतनी मशक्कत करनी पड़ जाती है कि किसी और चीज के लिए न वक्त होता, न हिम्मत और यह गरीबी के चक्र में फंसे रह जाते हैं। इस चक्र से निकलने का एक ही रास्ता है कि अपनी अगली पीढ़ी को कम से कम इस दुश्चक्र से निकालने की कोशिश करें। पढ़ाए-लिखाएं, उन्हें बताए कि आपकी मेहनत का उचित मेहनताना नहीं मिल रहा है, तो आपको इसका विरोध करना होगा, चुप्पी साधना इसका कोई हल नहीं है।'

'तुम बिल्कुल सही कर रही हो सलमा! यही हालत चाय बागानों में काम करने वाले कामगारों की भी है। अपनी पूरी ज़िंदगी वे इन बागानों में लगा देते हैं, और ये काम एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलता रहता है। लेकिन ऊपज पर कब्ज़ा मुट्ठी भर पैसे वालों का होता है। उन्हें न तो इन कामगारों की मेहनत का एहसास होता, न ही उनकी ज़रूरतों का। ये सचमुच कितना दुखद है।' लक्ष्मी ने सलमा की तरफ़ देखते हुए कहा। माहौल काफ़ी गंभीर हो गया था।

'मुझे तो चाय की तलब हो रही है, क्या ख्याल है, कहीं चल कर चाय पीएं?' लक्ष्मी ने गंभीर माहौल को हल्का करते हुए कहा। लक्ष्मी ने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि एक पूरी ज़िंदगी जो उसने चाय का बागान में काम करते हुए गुजारी थी, उस पर खुल कर बात करने का उसे मौका मिलेगा।

'चाय के साथ आलू बोंडा और केले के पकौड़े हो जाएं तो मज़ा ही आ जाए!' सलमा ने लक्ष्मी के प्रस्ताव के साथ एक लाइन और जोड़ दी। इनका अगला पड़ाव चाय की दुकान बनी। पर बातों का सिलसिला तो जैसे रुकने का नाम ही नहीं ले रहा था।

'चाय बागान के कामगारों ने क्या कभी अपनी इस स्थिति का विरोध नहीं किया, कभी अपनी मांगें नहीं उठाईं? मैंने अपने कॉलेज के सेमिनार में सुना था कि मुन्नार के चाय बागान की महिला कामगारों ने अपने अधिकारों के लिए ज़बरदस्त आवाज़ उठाई थी, और उन मांगों के सामने इतने बड़ी कंपनी को झुकना ही पड़ा था। क्या ऐसा कुछ हुआ था? काफ़ी दिलचस्प रहा होगा, बताओ न उसके बारे में।' रश्मि ने बड़ी उत्सुकता से लक्ष्मी की ओर देखते हुए कहा।

'हां सचमुच! 2015 का मुन्नार चाय बागान आंदोलन बहुत मजबूत था।' लक्ष्मी जैसे उसे याद करते हुए 2015 में ही पहुंच गई हो। उसके चेहरे पर कई तरह के भाव आ जा रहे थे।

बताओ ना! क्या था कैसे शुरू हुआ, और उस आंदोलन से क्या हासिल हुआ? रश्मि की उत्सुकता और बढ़ती जा रही थी।

'पहले चाय बागान ज़्यादातर टाटा के पास थे, लेकिन टाटा टी ने अपना पूरा ध्यान ब्रांडेड चाय पर लगाने का फैसला किया और मुन्नार के चाय बागान 1 अप्रैल 2005 को कानन देवन हिल्स प्लांटेशन कंपनी प्राइवेट लिमिटेड यानि के.डी.एच.पी. के पास आ गए। 2014 तक के.डी.एच.पी. कामगारों को हर दिन 231 रुपये की मजदूरी मिलती थी और साल में एक बार बीस प्रतिशत बोनस मिलता था। लेकिन 26 अगस्त 2015 को के.डी.एच.पी. मैनेज़मेंट ने वेतन और बोनस के बारे में एक नई घोषणा की। जो ये थी कि दैनिक मजदूरी तो वही रहेगी जैसा पहले मिल रही थी, उसमें कोई बढ़ोतरी नहीं की गई, लेकिन बोनस को बीस से घटा कर दस प्रतिशत कर दिया गया।'

'ओह! ये तो गलत है, क्या इसका किसी ने विरोध नहीं किया? यूनियन की तरफ़ से कुछ नहीं हुआ?' सलमा ने उत्तेजित आवाज़ में पूछा।

'यह बात कामगारों को बहुत बुरी लगी। कामगार अपनी निराशा ले कर ट्रेड यूनियन के पास गए, ताकि वे इस बारे में मैनेज़मेंट से बात करें। ट्रेड यूनियन के नुमाइंदों को मैनेज़मेंट ने जवाब दिया कि कंपनी को 2014 में बहुत नुकसान हुआ है, जिस वजह से उन्होंने वेतन नहीं बढ़ाया और बोनस में भी कटौती कर दी है।'

'फिर...???

'कामगारों के लिए यह एक चिंताजनक स्थिति थी, उस बोनस के पैसे से ही तो वे अपने बच्चों की पढ़ाई पर खर्च कर पाते थे। उनके सामने यह बड़ा सवाल मुंह फाड़े खड़ा हो गया कि वे अब क्या करें, बच्चों की पढ़ाई के लिए पैसा कहां से लायें। बोनस उनका एक बड़ा सहारा था। अब वो भी बंद!' जब यूनियन कामगारों की इस ज़रूरी मांग को पूरा करवाने में फेल हो गई तो, महिला कामगारों को लगा कि इस संघर्ष की कमान उन्हें अपने ही हाथ में लेनी होगी।'

'ये हुई न बात!' सलमा के मुंह से ये अनायास ही निकल गया।

'दस कामगार महिलाओं के एक समूह ने जो कि पेरीओवरी एस्टेट में काम करती थीं, उन्होंने यूनियन की साप्ताहिक मीटिंग में घुसने का प्लान बनाया। जब मीटिंग चल रही थी, ये महिलाएं घुस गईं। उनके घुसने पर कुछ समय के लिए तो एकदम.....सन्नाटा छा गया। पुरुष नेताओं के लिए तो ये बिल्कुल नई बात थी, उन्होंने कभी ऐसा सपने में भी सोचा नहीं था। पर इतना ही नहीं....इन महिला कामगारों ने यूनियन के नेताओं से माइक्रोफ़ोन छीन लिया....और सीधा सवाल किया कि उन्होंने बोनस के मामले में क्या कार्रवाई की है?... नेताओं को तो जैसे सांप सूंघ गया। उनके पास कोई जवाब नहीं था।' लक्ष्मी जैसे उस घटना को जी रही हो, उसकी मां भी तो उस आंदोलन का हिस्सा थी।

'सही किया, इसकी ही ज़रूरत है! पर उससे हुआ क्या?' रश्मि ने पूछा।

'सभी चाय बागानों में यह बात आग की तरह फैल गई। अगले दिन ये दसों महिला कामगार काम पर नहीं गईं और मुन्नार शहर के के.डी.एच.पी. जनरल स्टोर के बाहर अपना विरोध जताते हुए उन्होंने डेरा डाल दिया। उनके हाथ में तख्तियां थीं, जिसमें काम की स्थिति को बेहतर बनाने और बोनस में बढ़ोतरी की मांगें लिखी हुई थीं।... अब यह बात जब अगले दिन स्थानीय अखबारों और चैनलों से 36 एस्टेट की दूसरी महिला कामगारों तक पहुंची तो एक खलबली सी फैल गई।..... जैसे अब बिल्कुल साफ़ है कि उन्हें करना क्या है। प्रदर्शन के अगले दिन पचास साठ महिला कामगारों का जमावड़ा जनरल स्टोर के बाहर लग गया। और यह संख्या अगले पंद्रह दिनों तक लगातार बढ़ती गई।... अब लगभग 5000 महिला कामगार उस स्टोर के बाहर एकत्र हो गई थीं।.... काम भी ठप्प..... क्योंकि ये महिला कामगार तो के.डी.एच.पी. मैनेज़मेंट के फैसले के खिलाफ़ हाथों में तख्तियां लिए हुए जनरल स्टोर के बाहर खड़ी थीं... जिसमें लिखा था- *'हम बागानों में चाय के पत्ते तोड़ते हैं, आप हमें तोड़ते हैं, आप हमारा हौसला तोड़ते हो !', 'हम कामगार हैं, चाय की पत्तियां चुनते हैं, चाय की पत्तियों की बोरियां उठाते हैं और आप पैसे की बोरियां उठाते हो, इसका अंत होना ही चाहिए!'*

'ये कामगार महिलाएं अपने आप को 'पेमपिलाई ओरुमई' कह रही थीं, जिसका मतलब है- 'महिला एकता'। आख़िरकार मैनेज़मेंट को इनकी मांगों के आगे झुकना ही पड़ा। सोलहवें दिन डी. एच. पी. मैनेज़मेंट ने वार्षिक बोनस को फिर से 20 प्रतिशत करने की घोषणा की।'

'ओह! तो ये आंदोलन 15 दिनों तक चला।' रश्मि ने कहा।

'नहीं! ये संघर्ष अभी ख़त्म नहीं हुआ था।...... बोनस की घोषणा के बाद ये कामगार वापस अपने काम पर चली गईं। लगभग दस दिनों तक यह चला, उसके बाद ग्यारहवें दिन यानि 11 अक्टूबर 2015 को महिला कामगारों ने वापस फिर से के.डी.एच.पी. जनरल स्टोर के बाहर प्रदर्शन किया। और इस बार उनकी मांग थी-साप्ताहिक सेलेरी 500 की जाए।' लक्ष्मी ने सभी यात्रियों के चेहरे पर फैली उत्सुकता को पढ़ते हुए कहा।

'सही फैसला था। लोहा अभी गरम था, चोट तो अभी ही लगनी चाहिए थी।..... क्या फिर से उतनी ही संख्या में महिलाएं शामिल हुईं?' बुज़ुर्ग यात्री ने पूछा।

'ये प्रदर्शन 14 दिन तक चला और हज़ारों की संख्या में महिला कामगार इसमें शामिल हुईं। प्रदर्शन की वजह से यूनियन के नेता को मैनेज़मेंट पर दबाव बनाने का एक मौका मिला। यूनियन ने सामूहिक सौदेबाजी करते हुए मैनेज़मेंट को साप्ताहिक वेतन को 231 से बढ़ा कर 302 करने पर मजबूर किया। हालांकि ये प्रदर्शन कुल मिलाकर के 30 दिन चला था, मगर इसका असर मुन्नार समुदाय पर काफ़ी गहरा पड़ा।'

'लक्ष्मी जी ! आपने तो इस आंदोलन को बहुत करीब से देखा है, क्या आपको लगता है कि इस तरह के आंदोलन या विरोध से कोई फायदा है?' सलमा ने पूछा।

'मुझे फायदा और नुकसान की बात नहीं लगती, मुझे लगता है ये ज़रूरी है। जो गलत हो रहा है उसके खिलाफ़ खड़ा होना ज़रूरी है। अपने अधिकार तो बढ़ कर लेने ही होंगे।.... इस विरोध ने के.डी.एच.पी. मैनेजमेंट और केरल सरकार का ध्यान चाय बागानों में काम करने वाली महिलाओं की काम की स्थिति और ज़रूरतों की ओर खींचा। नहीं तो उसके पहले क्या था! ये महिलाएं लगातार कम से कम सुविधाओं और वेतन के काम कर रही थीं..... किसी का इस ओर कभी ध्यान ही नहीं गया था। इस आंदोलन की वजह से ही वेतन में बढ़ोतरी हुई, बोनस मिला। और आज मैं जो आपके सामने गाइड बन कर खड़ी हूं, उसी बोनस की वजह से ही तो यहां तक पहुंच पाई हूं।' लक्ष्मी ने मुस्कुराते हुए कहा।

'अरे देखो बाहर, चाय के बागान कितने अच्छे दिख रहे हैं! और ये पीठ पर टोकरी बांधे, पत्ते चुनती, मेहनत करती कामगार महिलाएं और भी खूबसूरत! सच में, संघर्ष इंसान को कितना खूबसूरत बना देता है।' सलमा उन कामगार महिलाओं को देखती हुई बोली।

'हां, हम मुन्नार में एंटर कर चुके हैं।.. ... आगे कंपनी की एक बड़ी दुकान है, वहां आप चाय की पत्ती खरीद सकते हैं, खुशबूदार, मिलावट रहित ताज़गी देने वाली, अच्छी चाय।' लक्ष्मी ने ड्राइवर को गाड़ी साइड में लगाने का इशारा करते हुए कहा।

लीडर खुद को पीछे, दूसरों को आगे रखते हैं

नेशनल विमेन हॉकर्स फ़ेडरेशन की जुझारू लीडर अनीता दास से बातचीत

रेहड़ी-पटरी विक्रेता या स्ट्रीट वेंडर्स असंगठित क्षेत्र के कामगार हैं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार भारत में 4 करोड़ महिला स्ट्रीट वेंडर्स हैं। शहरी रोजगार और गरीबी उन्मूलन मंत्रालय के आंकड़ों के अनुसार इस क्षेत्र के पुरुषों की जितनी कमाई है, उनमें से केवल एक चौथाई कमाई महिला विक्रताओं की हो पाती है। स्ट्रीट वेंडिंग का काम एक ऐसा काम है जिसमें कम निवेश और कम कौशल की ज़रूरत होती हैं, और इस कारण से इस क्षेत्र को अपनी आजीविका के तौर पर अपनाने वालों की संख्या भी बहुत ज़्यादा है। ऐसी स्थिति में महिलाओं को इस क्षेत्र में अपने पैर जमाने के लिए पुरुषों की तुलना में ख़ासी मशक्कत करनी पड़ती है। कई स्तर पर किए गए संघर्ष के बाद उनकी दैनिक खर्चे लायक कमाई निकलती है। इन महिला विक्रेताओं के पास काम करने की उचित परिस्थितियां नहीं हैं, वे असुरक्षित वातावरण में अपनी दुकानें लगाती हैं, उनके लिए शौचालय की व्यवस्था नहीं है, जो कि न केवल उनकी असुरक्षा को बढ़ाता है; बल्कि उनके स्वास्थ्य और कमाई पर भी असर डालता

है। इसके अलावा स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी, दुकान लगाने की जगह के लिए अपने साथी पुरुष विक्रेताओं के साथ संघर्ष, मुश्किल मौसम की स्थिति, निवेश के लिए धन की कमी और अन्य सामाजिक प्रतिबंधों का सामना भी उन्हें करना पड़ता है। जागोरी ने रांची, झारखण्ड की 201 महिला सब्जी विक्रेताओं के साथ उनकी आवाजाही, सुरक्षा आदि के मुद्दे पर एक अध्ययन किया है। उसमें भी यह सारे मुद्दे निकल कर आते हैं, कि किस तरह से ये महिला स्ट्रीट वेंडर्स असुरक्षित वातावरण और सुविधाओं की कमी के बीच अपना काम करती हैं। हमारे देश में कई ऐसी संस्थाएं और कार्यकर्ता हैं जो स्ट्रीट वेंडर्स के अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। उनके संघर्ष का ही परिणाम है कि आज रेहड़ी-पटरी दुकानदारों के हितों की रक्षा करने और रेहड़ी-पटरी से संबंधित गतिविधियों को नियमित करने के लिए 'आजीविका संरक्षण एवं पथ विक्रेता विनियमन कानून-2014, अस्तित्व में आया। इस कानून का मकसद रेहड़ी-पटरी वालों की आजीविका की रक्षा करना है। लेकिन अभी भी हम देखते हैं कि स्ट्रीट वेंडर्स ख़ासतौर पर महिला स्ट्रीट वेंडर्स को उनके अधिकार नहीं मिल पा रहे हैं। कानून ने जिन अधिकारों को मान्यता दे दी है, उन्हें भी हासिल करने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। ऐसे ही संगठनों में से एक संगठन है 'नेशनल हॉकर्स फ़ेडरेशन' जिसने देश भर में स्ट्रीट वेंडर्स के अधिकारों के लिए लगातार आवाज़ उठाई है। नेशनल हॉकर्स फ़ेडरेशन की एक कार्यकर्ता व लीडर अनीता दास न केवल कई राज्यों में महिला विक्रताओं का नेतृत्व कर रही हैं; बल्कि पुरुष विक्रेताओं की समस्याओं पर भी बराबरी के साथ आवाज़ उठा रही हैं। 'नेशनल विमेन हॉकर्स फ़ेडरेशन' आज 'नेशनल हॉकर्स फ़ेडरेशन' के साथ कंधे से कंधा मिला कर अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहा है। अनीता दास एक तरफ़ जहां महिला स्ट्रीट वेंडर्स के अधिकारों के लिए आवाज़ उठा रही हैं, वहीं महिला स्ट्रीट वेंडर्स लीडर्स तैयार करने में लगी हुई हैं कि वे आगे आयें और अपने संघर्ष के नेतृत्व की कमान अपने हाथों में लें। आइए अनीता दास से स्ट्रीट वेंडर्स के इन संघर्षों के बारे में जानते हैं-

सवालः आपने क्यों सोचा कि आपको रेहड़ी-पटरी कामगारों के अधिकारों के लिए काम करना चाहिए और आपने ये काम कब और कैसे शुरू किया?

अनीता दासः मैंने अपने काम की शुरूआत वर्ष 2000 में की थी। मैं उस समय उमर में बहुत छोटी थी, नेशनल हॉकर्स फ़ेडरेशन (एन.एच.एफ़.) से पार्ट-टाइम जुड़ी थी। उनके ऑफ़िस में आना-जाना करती थी। मुझे अच्छा लगता था रेहड़ी-पटरी कामगारों के साथ होने वाली बैठकों में शामिल होना। मैं पहली बार 2001 में भारत की राजधानी दिल्ली के विज्ञान भवन में रेहड़ी-पटरी कामगारों के लिए "राष्ट्रीय नीति" बनाने के मुद्दे पर हुई एक बैठक में शामिल हुई थी। मेरा ये पहला अनुभव था इतनी बड़ी बैठक में जुड़ने का और चर्चा करने का कि रेहड़ी-पटरी कामगारों के लिए कैसी नीति बनाई जानी चाहिए, उनकी ज़िंदगी और काम से जुड़े क्या-क्या मुद्दे उसमें शामिल होने चाहिए, इस नीति से कामगारों को क्या अधिकार मिलेगा इत्यादि। उस समय पुलिस, कामगारों से बहुत पैसा वसूल करती थी, ये चलन आज भी है, लेकिन हमारे समय बहुत ज़्यादा था। विक्रेताओं के पास उस समय में कोई अधिकार नहीं था, उनकी बेदखली होती थी, उन्हें बहुत सताया जाता था। ये सब बातें उस बैठक में मैंने सुनीं और सीखीं। मैं उस बैठक में सचिवों की प्रतिनिधि बन कर गई थी। मेरे साथ एन.एच.एफ़. की टीम में से 13 और लोग थे, जो सभी पुरुष थे, मैं वहां अकेली महिला थी। मैं पहली बार घर से बाहर दूसरे शहर आई थी, वो भी दिल्ली। वहां मुझे डर भी लगा, क्योंकि मेरी नॉलेज कम थी, मैं पहली बार इतनी बड़ी मीटिंग में बैठी

थी। सबसे पहले मैंने वो हॉल देखा, वहां काफ़ी लोग थे, जो भारत के अलग-अलग राज्यों से आए थे, दिल्ली, कोलकाता, उड़ीसा आदि। मैंने इतने लोगों से कभी बात नहीं की थी, मेरी ज़िंदगी को बदल दिया। मैं उस समय इतना नहीं बोल पाती थी, तजुर्बा नहीं था। हमने इतनी चर्चाएं कीं, मुझे उस बैठक में शामिल होकर लगा कि ये मुद्दा आगे आने वाले समय में बहुत बड़ा मुद्दा बनने वाला है। उस समय से मेरी इस आंदोलन में शुरुआत हुई। मुझे लगा कि मुझे इस मुद्दे पर काम करना चाहिए, क्योंकि ये इंसानों के अधिकारों का मुद्दा है। उस समय पर मेरे दिमाग में फेरीवालों का मुद्दा घूम रहा था। महिलाओं के अलग से क्या मुद्दे हैं, मेरी ये सोच नहीं थी।

उस दौरान दिल्ली के नेता सतीशचंद्र गुप्ता रेहड़ी-पटरी वालों के मुद्दे पर काम कर रहे थे। मथुरा जाते समय उनका एक सड़क दुर्घटना में देहान्त हो गया। उन्होंने एक सामूहिक बैठक अयोजित की थी। कोलकाता से हमारी टीम आई थी, हमें ज़्यादा हिंदी बोलनी नहीं आती थी। मंच पर खड़े होकर मैंने फिर भी बोला, थोड़ा सा ही बोला, पर बोला। मेरे नेता शक्तिमान घोष ने मुझे अचानक से खड़ा कर दिया और मंच पर बोलने को कहा, क्योंकि मैं एक महिला थी, मैं सबके आकर्षण की केंद्र बन गई, क्योंकि 14 लोगों की टीम में मैं अकेली एक महिला थी और सब महिला के मुंह से कुछ सुनना चाहते थे। वो मेरा पहली बार का भाषण था एक सामूहिक बैठक में। मैंने वो जो माइक पकड़ा, आज तक चलता रहा।

सवालः आपने उस समय स्ट्रीट-वेंडर्स के रिश्तेदारों के मुद्दों पर काम शुरू किया? आपके संघर्ष के सफर के बारे में कुछ बताइये?

अनीता दासः मैंने कोलकाता से अपने काम की शुरुआत की। मैं लड़की हूं, उसके कारण से मेरे ऊपर किसी ने दया करके इस संस्था/काम से नहीं जोड़ा, मैंने अपनी मेहनत से सब किया। एन.एच.एफ़. के कार्यालय में जो माहौल था, वो ज़्यादा करके पुरुषों का माहौल था, वहां बहुत कम महिलाएं आती थीं। उस माहौल में मुझे काम करना था और उस माहौल में मुझे अपना काम नहीं करना पड़ा। सभी को यूनियन के हिसाब से रोड पे जाना पड़ता था, लोगों से बात करना पड़ता था, ये हुआ फ़ील्ड-वर्क, लेकिन मुझे ये काम नहीं दिया जाता था। सोचा जाता था कि मैं कुछ नहीं जानती, छोटी बच्ची हूं, मुझे कुछ नहीं आएगा, मैं कुछ नहीं कर पाऊंगी। इसलिए मुझे छोटा-छोटा काम देते थे, ऑफ़िस का बिल और वाउचर लिख दो, फ़ोन अटेंड करो। ऑफ़िस में, ऊपर चौक पर हर 2-3 दिन में ऐसी बड़ी-बड़ी बैठकें होती थीं, जहां चर्चा की जाती थी कि पुलिस आई, रोड से फेरीवालों को उठाकर ले गई, उसका सामान जब्त कर लिया। इलाके के सारे वेंडरों को उठाकर ले जाया गया उन बैठकों में। मैं बस सुनती थी। कोलकाता में ऐसा एक नियम है कि जो हॉकर्स के लिए लड़ाई करेगा, उसके लिए प्रतिदिन हॉकर्स को 1 रुपया चंदा देना पड़ेगा। वो चंदा इकट्ठा करने का काम मुझे मिला। फिर मैं सड़क पर जाती थी, छोटे-छोटे कूपन देती थी, पैसे इकट्ठे करती थी। कई बार विक्रेता चंदा नहीं देते थे, मुझे हाथ फैलाना पड़ता था। उस समय जब मैं पुरुष विक्रेताओं के पास जाती थी, मेरी उम्र बहुत कम थी, उनकी सोच क्या थी, मुझे पता नहीं। मुझे याद है उस समय एक क्षेत्र के नेता मुझसे मेरे काम के बारे में बात करते थे। चाय भी पिलाते थे और कुछ नेता ऐसे थे, जिनके दिमाग में मेरे प्रति पता नहीं क्या चलता था। वो मुझे एक अलग नज़र से देखते थे। पर मैंने अपना काम पूरी ईमानदारी के साथ किया। मैं सोचती थी, अगर उस समय मैं अपना काम छोड़ के

चली जाती तो आज मैं जहां पहुंची हूं, वहां नहीं पहुंच पाती। वो मेरे लिए एक तजुर्बा था। मेरे नेता शक्तिमान दादा का ये कहना था कि अगर ज़मीनी स्तर पर अपने आपको मजबूत बनाओगे तभी आप आने वाले समय में निष्कासन, पुलिस, नेतृत्व की लड़ाई, इलाके की लड़ाई, राज्य की लड़ाई, ये सब संघर्ष कर पाओगे। छोटी-छोटी लड़ाइयों से सीखकर ही आप बड़े तूफ़ान को झेल पाओगे, सख्त होना पड़ेगा। मैंने सख्त होना सीखा. कभी दुखी नहीं हुई। उसके बाद से मैंने कहा कि मुझे ये काम करना है, कुछ बनना है। अपने अनुभवों से मैंने सामूहिक बैठकों का प्रचार शुरू किया। मुझे शर्म लगती थी. मैं लॉरी, छोटे टेम्पो में बैठकर प्रचार करती थी। अपने आपको छुपाकर रखती थी। मैं बंगाली में बात करती थी, लॉरी में से ही माइक लेकर बाज़ार में घूम-घूमकर स्ट्रीट मीटिंग करती थी। एक दम नीचे ज़मीनी स्तर का काम करके मैं फेरीवालों के बीच में घुस गई। उनके नज़दीक चली गई। कुछ साल बाद, धीरे- धीरे ऑफ़िस की और ज़िम्मेदारी भी मुझे दे गई। एक बार मीटिंग करके मैं ऑफ़िस से 10 बजे घर पहुंची। मुझे बड़े भैया का चांटा पड़ा कि कौन से अच्छे घर की लड़की रात को इतनी देर से काम करके घर पहुंचती है, बहुत मार खाई। मैंने फिर भी काम नहीं छोड़ा, मैंने भैया को बोला, ठीक है, अगले दिन से जल्दी घर आऊंगी। मैंने ऑफ़िस में बोला, मेरे घर से आपत्ति है, देर हो जाती है। मैं जल्दी घर जाया करूंगी। फिर मेरे नेता ने मेरे बड़े भैया के साथ मीटिंग की, सब काम उन्हें समझाया कि मेरे ऊपर ज़िम्मेदारी है। घर से वो रोक-टोक धीरे-धीरे टूटने लगी, और उसके बाद मैंने दिल खोल के काम किया।

काम करते-करते एक दिन ये महसूस हुआ कि मैं कभी उस जगह पे नहीं जा पाऊंगी जिस जगह पे मुझे जाना चाहिए। कोलकाता में कोई अपना नेतृत्व छोड़ना नहीं चाहता। मुझे लगा मैं यहीं रहूंगी तो ज़िंदगी भर यहीं काम करती रहूंगी- 1 रुपया चंदा इकट्ठा करूंगी, प्रचार करूंगी, मैं आगे नहीं बढ़ पाऊंगी! मुझे लगा कि मैं संस्था के लिए ज़रूर कुछ बड़ा काम करुं। ये नहीं पता था कि वो बड़ा काम क्या होगा! पर ये चाहत थी कि कुछ बड़ा हो।

2006 में मैंने तय किया था रांची जाने का, मैंने अखबार में पढ़ा था कि रांची में रिलायंस-फ्रेश टूट गया, मैंने नेता से बहुत कैज़ुअली बात की कि हम रांची में जाकर काम करेंगे। उन्होंने बोला तुम अकेले जाकर काम कर पाओगी? मैंने बोला चेष्टा तो करूंगी, आप लोगों का सहयोग रहेगा, तो मैंने अपना काम शुरू किया। मैंने दादा को बोला कि बस मेरे रहने की जगह ढूंढ दीजिए। फिर उन्होंने एक परिवार से बात की। एक महिला अपनी 2 बेटियों के साथ एक घर में रहती थी, वो टाटा जमशेदपुर में काम करती थी, पर रहती रांची में थी। उस घर में मुझे रहने की जगह मिल गई। जब मैं राँची जा रही थी, मेरे घरवालों को ये बात ठीक नहीं लगी, क्योंकि उस समय का जो राँची था, और अभी के राँची में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है। मेरी संस्था के लोग भी डर रहे थे कि मुझे नहीं जाना चाहिए। पर मैंने बोला कि नहीं, मुझे जाना है, मैं कोशिश तो कर ही सकती हूं। रांची ही क्यों? मुझे ये आज तक नहीं पता कि मैंने रांची को ही क्यों चुना। मैं जब उस घर में गई, उस महिला की तरफ़ से मुझे ज़्यादा प्रतिक्रिया नहीं मिली। मेरा ज़्यादा समय उनके घर के कामों में ही लग जाता था, संस्था विकसित नहीं हो पा रही थी। पर मैंने हिम्मत नहीं हारी! जब हम अकेले निकलने की हिम्मत करते हैं, तो कोई न कोई रास्ता मिल जाता है।

उस समय मुझे 2500 रुपये दिए गए संस्था की तरफ़ से मेरे रांची के खर्चे के लिए। रांची में परिवहन सुविधा उस

समय बहुत खराब थी, मिनी बस भी नहीं चलती थी, सिर्फ़ रिक्शा और ऑटो चलता था। ऑटो का खर्चा 7-8 रुपए था, आज 10, 12, 15 रुपए हो गया है। मुझे कुछ रास्ते समझ नहीं आते थे तो मैं ऑटो में जाती थी, पैसा वहीं खत्म हो जाता था और मुझे दूसरे पर निर्भर होना पड़ता था। चुनौतियों की वजह से 2006-2010 में संस्था का काम विकसित नहीं हो रहा था। तो मैंने दादा से बात की कि मुझे अपना अलग कमरा लेना है। मैंने 1500 रुपये देकर एक कमरा लिया और वहां रहकर काम शुरू किया। मुझे कुल 2500 रुपये मिलते थे और उसमें से 1500 रुपये खरीदने में चले जाते थे। बचे हुए 1000 रुपये से मुझे बाकी खर्चा करना होता था। मैं कभी नाश्ता करती थी, कभी नहीं कर पाती थी, कभी मैं दिन का खाना खाती थी, कभी छोड़ देती थी, वो बहुत संघर्ष के दिन थे। हमारी संस्था हमें अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाती थी और कहती थी कि अपने बलबूते पर संस्था को खड़ा करना है, हमारा सिस्टम ट्रेड यूनियन जैसा था कि रेहड़ी अपने दम पर खड़ा किया, लड़े - झंडा-बैनर का खर्चा रेहड़ी खुद उठाएं, क्योंकि ये उनकी लड़ाई है. आने वाले दिन में अगर मुझे कुछ हो गया तो वो लड़ाई रुक नहीं जानी चाहिए। अगर फेरीवाले अपना दान खुद करेंगे और लड़ाई लड़ेंगे, तभी संस्था बनेगी और विकसित होगी। हमारी संस्था का आरंभ से यही सिद्धांत था। तो एक तरफ़ से फेरीवाले भी तैयार हो रहे थे और दूसरे तरफ़ से मैं भी तैयार हो रही थी। ऐसे मैंने काम शुरू किया।

तब तक हमारे हाथ में 2009 की एक नीति आ चुकी थी, जिसमें लिखा था कि विक्रेताओं की बेदखली नहीं हो सकती और उनके लिए राज्य को एक कानून बनाना होगा। मैं जब नीति की उस किताब को विक्रेताओं के पास लेकर जाती थी-उसमें से काफ़ी लोग बहुत सालों से फेरीवालों के रुप में काम कर रहे थे। कोई 1984 से लड़ रहा था, कोई 1990 से, कोई उससे भी पहले से, जेल भी गए थे। वो सोचते थे कि मैं लड़की हूं, छोटी हूं, उनसे कम अनुभव है, तो मेरे साथ वो क्या आंदोलन करेंगे, क्या जुड़ेंगे। एक और चुनौती थी-मैं बंगाल से गई थी। रांची में आज भी बाहरी और भीतरी वाली सोच बहुत काम करता है। मेरा और शक्तिमान दादा का पुतला बनाया गया, जला दिया गया। पुतला जलाने के बाद मेरा बहुत विरोध हुआ, उसकी खबर अखबार में भी आई। मान गया कि मैं बाहर से आई हूं, इन लोगों को लूट के चली जाऊंगी। ये अफ़वाह फैल गई। पर मैंने नीति के बारे में ज़रूर काम शुरू कर दिया। धीरे-धीरे लोगों ने मेरे साथ जुड़ने के लिए हां की। पर मैं रात में शहर में यह समझ कर आती थी कि लोग मुझसे जुड़ेंगे और लोग कहते भी थे कि वो मेरे साथ जुड़ेंगे। पर सुबह होती थी तो वही लोग मुझसे अच्छे से बात नहीं करते थे, मुझे अपने व्यवहार से समझाते थे कि वो नहीं जुड़ेंगे मुझसे। मैं समझ गई, पर मैंने उन रास्तों को नहीं छोड़ा। मैं लगातार उन रास्तों में जाती थी, विक्रेताओं से बात करती थी। मेरे पास एक छोटा फ़ोन था, पर ज़्यादा रिचार्ज नहीं कर पाती थी, क्योंकि पैसे नहीं थे। इस वजह से मैं ज़्यादा बात कोलकाता में दादा से नहीं कर पाती थी। मुझे उस समय जो समझ आता था, उसकी समझ से मैं काम करती थी। मैं सोचती थी कि वेंडर मुझे थप्पड़ तो नहीं मारेंगे ना। मैं लगातार उनसे मिलने जाती थी, मेरा मानना था कि उनको अंत में लगेगा कि ये लड़की रोज़ आती है हमारे पास। लोगों ने जुड़ना शुरू कर दिया। 2010 में मैंने एक सामूहिक बैठक और प्रेस कॉन्फ्रेंस रांची के टाउन हॉल में आयोजित की और मैंने सबको वहां बुलाया। शक्तिमान घोष, मेरे नेता, उनको बुलाया, एन.एच.एफ. की बंगाल की टीम को बुलाया और रांची के नेताओं और हॉकरों को, पुलिस को, सरकार कर्मचारियों को सबको। शहर का टाउन हॉल मतलब 10,000 लोगों की भीड़

होती है। वो शुरूवात में मेरी एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। उसके समय मेरे दादा जी अस्पताल में आई.सी.यू. में दाखिल थे और मेरी संस्था नई-नई बन रही थी और मैं वहां से हिल भी नहीं पा रही थी। उनके अंतिम समय में मैं दादा जी से मिल नहीं पाई। उनका देहांत हो गया। मैं उनके श्राद्ध में भी नहीं जा पाई, बस क्रियाकर्म में जा पाई। मेरे लिए बहुत कुछ किया था, पढ़ाया, लिखाया, बड़ा किया। जिस दिन मेरा पहला प्रेस कॉन्फ्रेंस था, उसी दिन मेरे दादा जी का श्राद्ध था। मुझे लगा मेरे दादा जी शायद खुश ही होंगे कि मैं अपनी संस्था के लिए ज़रूरी हूं, इतने लोगों के लिए काम शुरू कर रही हूं। तो प्रेस कॉन्फ्रेंस के लिए हमने 2009 की नीति के मुताबिक ही अपील की थी, हमें राज्य से अपील करनी है कि विक्रेताओं के लिए एक कानून बने। इस कॉन्फ्रेंस में हमने कई बुद्धिजीवी लोगों को बुलाया जैसे-दयामणि बिड़ला जी, रामदयाल जी जो उस समय विधायक थे। सबने हमारा साथ दिया-जब हाई कोर्ट का एक आदेश आया सबसे बड़े बेदखली का, बस्ती, फेरीवाले सबको हटा दिया गया, गोलियाँ चलीं। तब हम लोगों ने फैसला लिया कि अब अकेले लड़ने से कुछ नहीं होगा। हमने एक मंच बना लिया जिसमें ऑटो चालक, ई-रिक्शा चालक सभी शामिल थे।

सवालः क्या आप कोई यादगार हड़ताल के बारे में हमें बता सकती हैं?

अनीता दासः हां, हड़तालें तो काफ़ी कीं, हर आंदोलन में कुछ ना कुछ जीत भी हुई, पर वो जीत छोटी-छोटी ही थीं। झारखंड के रेहड़ी-पटरी कामगारों की हर लड़ाई बढ़ती गई, हमने जब भी जुलूस निकाला, वो बहुत बड़े पैमाने पर गया। हर बाज़ार के लोग इसमें शामिल हो गए। आपको दो ऐसे ही संघर्षों के बारे में बताती हूं।

दुर्गा पूजा और दीपावली का समय था। कोर्ट का आदेश था कि 15 दिन तक मेनरोड पर कोई दुकान नहीं लगेगी। राज्य ने अर्धसैन्य बलों के सैनिकों को विक्रेताओं के लिए भेज दिया कि वे दुकानें ना लगा पाएं। विक्रेताओं ने हार नहीं मानी, उन्होंने पूरे शरीर में दुकान बना ली थी-गले में, हाथों में, शहर की हर जगह सामान घुसा लिया था बेचने के लिए। हर सड़क से इस हड़ताल में लोग आये, आंदोलन किया। वेंडरों ने ऐलान किया कि हम इस साल काली दीपावली बनाएंगे, बैनर भी काला बनाया था, वेंडरों ने दिया नहीं जलाया। ना दुकान लगाई, ना जगह छोड़ी। प्रतिदिन जुलूस निकला। विक्रेताओं ने बोला कि नीति के हिसाब से जब तक वेंडिंग जोन नहीं बनाएंगे, हम तब तक दुकान नहीं लगाएंगे।

दूसरी लड़ाई में हमने एक मशाल जलूस निकाला। हर बाज़ार से लोग टायर को छोटा-छोटा काटकर डंडा लगा देते थे और मशाल जलाते थे। कोई वेंडर मार्केट से आ रहा है, कोई बिरसा चौक से, कोई फिराया लाल चौक से। स्थानीय पुलिस थाने से अफ़सर मशाल पर पानी डालने लगे। बहुत भयंकर रूपरेखा शुरू होने वाली थी। एक महिला होकर मैंने एक तरफ़ पुलिस को, दूसरे तरफ़ विक्रेताओं को रोका, पर किसी पर मैंने न लाठी चार्ज होने दिया, न किसी को मैंने गिरफ़्तार होने दिया और न संस्था पर मैंने केस होने दिया। उस समय पता नहीं मुझमें इतना साहस कहां से आ गया। सब शांतिपूर्व हो गया। वो मेरे लिए बहुत बड़ा दिन था ।

सवालः क्या इस आंदोलन में महिला रेहड़ी पटरी कामगारों की भागीदारी और नेतृत्व रहा है?

अनीता दासः मैंने देखा कि जब भी कोई रैली या जुलूस होता था, महिलाएं उसमें बढ़-चढ़कर भागीदारी निभाती थीं।

अगर 10 बजे जुलूस शुरू होना था, वह 8.30 बजे ही आ जाती थीं। वो काफ़ी सकारात्मक रूप से सिर पर बचे हुए समान की टोकरी बांधकर जुलूस में शामिल होती थीं। बेदखली के समय भी कमर कस के पुलिस को भगा देती थीं, पुरुष तो खुद ही भाग जाते थे। पुरुषों को डर लगता था कि कहीं डंडे न पड़ जाएं, पर महिलाएं डरती नहीं थीं। अगर एक बाज़ार में 200 पुरुष हैं और 50 महिलाएँ, पुरुषों की तुलना में वो 50 महिलाएँ पुलिस पर भारी पड़ जाती थीं। मैं खुद एक महिला हूं, शुरुआत में मेरी दोस्ती महिलाओं से ज़्यादा हुई। मैं महिलाओं से साथ बैठती थी उनका तराजू लेके, मैं घंटों उनसे उनके घर की, बच्चों की बातें करती थी। वो सुबह 4 बजे घर से निकल जाती थीं, कई बार बाल भी नहीं बना पाती थीं, समय ही नहीं होता था, इतना काम जो करती थीं। फिर पेट में बच्चा लेके, गोद में बच्चा लेके, पीठ पर बच्चा बांधकर भी सड़क पर आती थीं सामान बेचने। यही स्थिति आज भी है महिलाओं की। इतने काम के बावजूद विक्रेताओं के निष्कासन के आंदोलन में बहुत सहयोग करती थी; तो मुझे लगा कि महिलाओं की समिति बनाना ज़रूरी है। पुरुष कई बार महिलाओं को बताते भी नहीं थे कि मीटिंग है, किस मुद्दे पर मीटिंग है, क्योंकि उन्हें ये भ्रम होता था कि वो समझ नहीं पाएंगी। तो मैं उन्हें बोलती थी-मैं भी तो एक महिला हूं, अगर मैं मुद्दों को समझ सकती हूं, तो वो तो समझ ही सकती है, वो तो और गहराई से समझ सकती है क्योंकि वो चुनौतियां रोज झेल रही हैं। मैंने बोला जहां 4 पुरुष नेता हैं तो 1 महिला होना अनिवार्य है। ऐसे करके धीरे-धीरे मैंने महिलाओं को जोड़ना शुरू किया। रांची की मेयर भी महिला थी, मैं भी महिला हूं, हम सब महिलाएं जो ठान लें, कर सकती हैं। और स्ट्रीट वेंडर महिलाओं के बहुत मुद्दे थे जिनपर अलग से चर्चा होनी ज़रूरी थी जैसे कि उनके शौचालय का मुद्दा, उनके साथ हो रही हिंसा का मुद्दा, उनके लिए आश्रय की व्यवस्था का मुद्दा, उनके बच्चों की देखभाल का मुद्दा। मुझे याद है एक बार एक 70 साल की महिला विक्रेता को सड़क पर से हटाने के लिए 4 पुरुष पुलिस आए थे और महिला के बाल पकड़कर उन्हें मारा था, वो फोटो अखबार में छपी थी, मेरे पास आज भी है। ये सब देखकर हमने निर्णय लिया कि महिलाओं की अलग से कमेटी बनानी ज़रूरी है। 2012-13 के बीच में हमने महिलाओं की एक मास बैठक अयोजित की जिसमें हमने मेयर को बुलाया और महिलाओं की समिति बनाई। एन.एच.एफ. से हमने बात की है कि हमें महिला नेतृत्व चाहिए और महिलाओं के बारे में अलग से बात होने की ज़रूरत है। उसके बाद 2013-2014 में हमने जब कानून के लिए आंदोलन चलाया तो पुरुषों के बराबर महिलाएँ शामिल थीं उत्तर - पूर्व से लेकर बंगाल, झारखंड की महिलाओं ने नेतृत्व लिया आंदोलन का। दिल्ली के जंतर-मंतर वाले धरने में भी सबसे पहले महिलाओं ने भाग लिया और वहीं बैठ गईं, धरना खत्म होने तक वो हिली भी नहीं। ये एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी हमारे लिए, सबने स्वीकार किया महिलाओं के नेतृत्व को। फिर हमने बनाई ऑल इंडिया वुमेन हॉकर फ़ेडरेशन (AIWHF) पहला सम्मेलन मुंबई में अयोजित किया। हमें बुलाया विश्व भर में महिला कामगारों की आवाज़ उठाने वाली महिला नेताओं को-वंदना शिवा जी, रूथ मनोरमा जी जो हमारी चेयरपर्सन हैं। 2016-17 से हम जोरों-शोरों से महिला विक्रेताओं को केन्द्रित करके फ़ेडरेशन के काम कर रहे हैं।

जागोरी संस्था से हमने बहुत कुछ सीखा कि कैसे महिला विक्रेताओं के मुद्दों पर काम किया जा सकता है। हमने शोध किया, सुरक्षा ऑडिट की, टी.वी.सी. के सदस्यों के साथ और निगम इत्यादि के साथ इंटरव्यू और पैरवी दोनों कीं। इसमें महिलाओं के काफ़ी मुद्दे निकले। हमने पिछले साल एक धरना किया था। धरने में हमने एक ज्ञापन सौंपा, जिसमें विक्रेताओं ने अन्य मांगों के साथ-साथ, खास करके महिला विक्रेताओं के लिए शौचालय की

मांग शामिल कर दी। और हमारी एक मांग काफ़ी समय से चल रही है-उसे भी पिछले साल हमने दोहराया कि बेदख़ली के समय महिला पुलिस शामिल की जाए। कोई पुरुष पुलिस महिला को हाथ न लगाए। हमारी ये भी मांग थी कि महिलाओं के लिए रैन बसेरा बनाया जाए और सर्दियों में जैसे अस्थायी रैन-बसेरे बनते हैं, महिलाओं के लिए भी ऐसा कुछ बने। जागोरी और ए.आई.डब्ल्यू.एच.एफ. की पैरवी के कारण अब शहर के बीचों-बीच में रैन-बसेरों में महिलाओं के लिए अलग से बिस्तर की व्यवस्था की गई है।

सवालः आपके संगठन में आप नेता/लीडर किस तरह से तैयार करते हैं?

अनीता दासः हमारा तरीका ये है कि हम हर सड़क/चौक/चौराहे पर जाते हैं और फुटपाथ-दुकानदारों से बात करते हैं-उनके अधिकारों के बारे में। इस बातचीत के दौरान अगर वो इकट्ठे होकर जुड़ जाते हैं तो हमें लगता है कि वो ध्यान से बात सुन रहे हैं, रुचि ले रहे हैं, सवाल-जवाब कर रहे हैं। उनकी हम धीरे-धीरे तैयारी करते हैं और उन्हें नेता बनाते हैं। हम हर मुख्य सड़क के लिए अलग नेता बनाते हैं, और ये हर बाज़ार के लिए अलग होते हैं, क्योंकि सड़क से बेदखली की कहानी अलग है और बाज़ार की अलग। हर मुख्य सड़क और हर बाज़ार में अलग-अलग नेता हैं।

नेता में कई बार लालच भी आता है, क्योंकि जान-पहचान हो जाती है, कई बार अगर पुलिस ने प्यार से आकर कंधे पे हाथ रख दिया तो नेता उनको पैसा भी देना शुरू हो जाते हैं। इसलिए 4-5 नेता बनाते हैं हम, क्योंकि अगर एक नेता कुछ गड़बड़ करेगा तो दूसरा हमें बता देगा। हमारे कानों तक खबर आ ही जायेगी। फुटपाथ-विक्रेता के हित में जो काम करेंगे वो नेता रहेंगे, जो अपने हित में काम करेंगे, वो नेता नहीं रहेंगे।

हमने सभी नेताओं को लेके एक कार्यकारी निकाय (ई.बी.) तैयार किया है। उदाहरण के तौर पर अगर रांची में कुल मिला के 80 नेता हैं, हर बाज़ार से 4-5, हम बाज़ार के हिसाब से नेता की संख्या तय करते हैं और नेता की संख्या के हिसाब से हम इन सदस्यों की संख्या तय करते हैं। हम ई.बी. को बुलाते हैं अपनी बैठकों में, जैसे कि अगर हमने एक जुलूस निकालना है, तो हम ई.बी. सदस्यों को फ़ोन करते हैं, वो खबर देते हैं अपने क्षेत्र में नेताओं को और नियोजित करते हैं कि कैसे बैठक करनी है, मुद्दा भी वो लोग चुनते हैं। ऐसे ही हम हर कार्यक्रम, रैली, धरना करते हैं और निर्णय लेते हैं।

सवालः आपका कोई सुझाव है उन लोगों के लिए जो फुटपाथ-विक्रेताओं के मुद्दों पर काम करना चाहते हैं?

अनीता दासः हमें ऐसी पीढ़ी चाहिए जो हमारा सहयोग दे सके। हमारे यहां नेता ज़्यादा पढ़े-लिखे नहीं हैं। अगर समाज में से पढ़े-लिखे लड़के-लड़की, कोई पी.एच.डी. कर रहा हो या किसी संस्था से हो-ऐसे लोग हमारे साथ जुड़ेंगे तो वो हमारे लिए एक उपलब्धि होगी। कई जगह वो हमारा सहयोग दे सकते हैं-फुटपाथ पर रहने वालों को जागरुक करने के लिए, उन्हें प्रशिक्षण देने और कोर्ट की लड़ाई के कामों में। आधिकारिक/ सरकारी दस्तावेज अंग्रेज़ी में होते हैं, फुटपाथ विक्रेताओं को ये मुश्किल भाषा समझ में नहीं आती। कई बार सरकारी अधिकारी उन्हें अनपढ़ समाज मानकर गलत समझा देते हैं। तो अगर पढ़े-लिखे लोग, नई टेक्नोलॉजी को जानने वाले लोग हमारे साथ जुड़ेंगे, तो हमारा संगठन और ज़्यादा आगे बढ़कर फुटपाथ विक्रेता अधिकारों के लिए काम करेगा।

दुनिया के मजदूर एक हो!

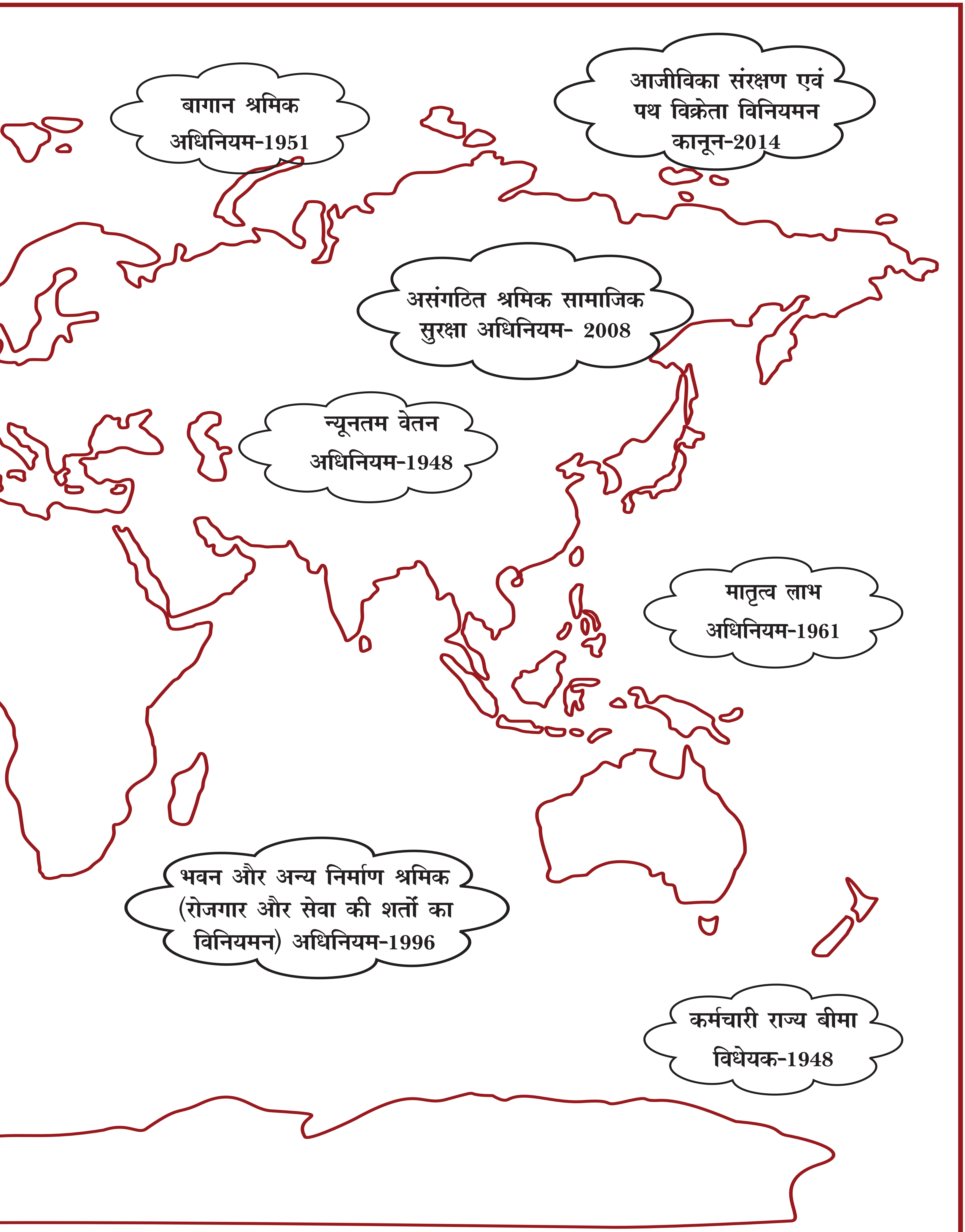

बागान श्रमिक अधिनियम-1951
आजीविका संरक्षण एवं पथ विक्रेता विनियमन कानून-2014
असंगठित श्रमिक सामाजिक सुरक्षा अधिनियम- 2008
न्यूनतम वेतन अधिनियम-1948
मातृत्व लाभ अधिनियम-1961
भवन और अन्य निर्माण श्रमिक (रोजगार और सेवा की शर्तों का विनियमन) अधिनियम-1996
कर्मचारी राज्य बीमा विधेयक-1948

सामाजिक सुरक्षा हर कामगार का अधिकार
मेहनत का नाम हो
मान और सम्मान हो
श्रम का वाज़िब दाम हो
ज़िंदगी न गुमनाम हो
हम कामगार हैं गुलाम नहीं